ज्ञान दर्पण

- शाह दीपचन्द

ज्ञान-दर्पण

लेखक :

स्व. शाह दीपचन्दजी कासलीवाल

गद्यानुवाद :

कमलचन्द जैन

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

एवं

वीतराग विज्ञान ग्रन्थमाला, झालरापाटन

प्रथम सस्करण : 2 हजार
(2 अक्टूबर, 2000)

द्वितीय संस्करण : 1 हजार
(26 जुलाई, 2010)
वीर शासन जयन्ति

योग : 3 हजार

मूल्य : **ग्यारह रुपये**

टाईपसैटिंग :
प्रिन्टोमैटिक्स
दुर्गापुरा, जयपुर-302018
फोन : 2722274

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम,
जयपुर

अनुवादक की ओर से

स्व. कविवर दीपचन्दजी कृत 'ज्ञानदर्पण' आपके हाथों में सौंपते हुए मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन पद्य के रूप में आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व सूरत से 'जैनमित्र' के ग्राहकों को भेंट स्वरूप देने हेतु किया गया था। मैंने जीर्ण अवस्था में प्राप्त एक प्रति को आद्योपान्त पढ़ा और समझा, साथ ही विचार आया कि इसका हिन्दी गद्य में अनुवाद हो जाए तो यह बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी तथा जनसामान्य इसके भावों को समझकर अपना आत्मकल्याण करें। मैंने गद्यानुवाद करने में बहुत ही सावधानी बरती है। साथ ही इसके रचियता पण्डित श्री दीपचन्दजी शाह के भाव बराबर बने रहें इस भय से कहीं-कहीं तो मूल शब्दों को ज्यों का त्यों ही रख दिया है। अनुवाद करने में मूल भावों को अक्षुण्ण बनाये रखने के साथ-साथ भाषा के प्रवाह का भी ध्यान रखा गया है। अज्ञानता के कारण भ्रम से भूले-भटके राहगीरों की अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ जो अनादिकाल से भरी पड़ी हैं; उन्हें 'ज्ञानदर्पण' ग्रन्थ के माध्यम से समझकर शाश्वत सुख को प्राप्त करें। ज्ञेय से ज्ञान की सर्वांगीण निरपेक्षता है। ज्ञानी जानता है कि जिस समय जो ज्ञेय मेरे ज्ञान में प्रतिबिम्बित हैं; वह सब ज्ञान का ही आकार है और वह सब मैं ही हूँ और वह प्रतिबिम्ब भी मेरा ही स्वभाव है। अतः निरन्तर मैं तो ज्ञान ही हूँ ज्ञेय (घटपटादि) नहीं। यह सामान्य की दृष्टि एवं अनुभूति ही शान्ति प्रदायिनी है।

कविवर द्यानतरायजी ने कहा है –

ये आठ भेद करम उछेदक, ज्ञान-दरपण देखना।
इस ज्ञान ही से भरत सीझा, और सब पट पेखना।।

अनुवाद करते समय मुझे आदरणीय डॉ. साहब हुकमचन्दजी भारिल्ल जो कि जैन जगत के देश-विदेश में ख्याति प्राप्त विद्वान हैं का आशीर्वाद तथा भाईश्री जतीशचन्दजी शास्त्री का प्रोत्साहन भी प्रेरणादायी बना। साथ ही भाईश्री शान्तिकुमारजी पाटिल ने भी अपना भरपूर सहयोग देकर इसे पूर्णता प्रदान की; जिसके लिए मैं आप सभी का हृदय से आभारी हूँ। भाईश्री अखिल बंसल जिन्होंने बहुत उत्साह एवं लगन से सुन्दर मुद्रण कार्य कर शीघ्र आप तक पहुँचाया है एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूँ। अनुवाद में प्रमाद व अज्ञानतावश जो भी चूक हुई हो तो ज्ञानीजन सुधारकर पढ़ें तथा क्षमा करें।

प्रस्तुत रचना के प्रकाशन में जिन आत्मार्थी बन्धुओं ने आर्थिक सहयोग देकर इसे आप तक पहुँचाने में सहयोग प्रदान किया है उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हुआ उक्त कृति के अध्ययन मनन द्वारा सभी लोग ज्ञानस्वभावी आत्मा का दर्शन करें। इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

कमलचन्द जैन
अध्यापक, झालरापाटन

प्रकाशकीय

कविवर पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल कृत ज्ञानान्दर्पण नामक लघु कृति का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत कृति की विस्तृत भूमिका लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने लिखी है। भूमिका में डॉक्टर साहब ने कृति का सांगोपांग चित्रण किया है। कृति के लेखक पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल ने ज्ञान-दर्पण में अध्यात्म की धारा प्रवाहित की है। आप खण्डेलवाल जातीय कासलीवाल गोत्र के थे तथा जयपुर के निकट सांगानेर के निवासी थे। बाद में आप आमेर में आकर रहने लगे और वहीं आपने साहित्य सृजन का कार्य किया।

गद्य और पद्य दोनों विधाओं पर आपका समान अधिकार था। आपकी गद्य रचनाओं में भावदीपिका, चिद्विलास, अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन तथा परमात्मपुराण एवं गद्य रचनाओं में ज्ञानदर्पण, स्वरूपानन्द तथा उपदेश सिद्धान्तरत्न आदि प्रमुख हैं।

जैन साहित्य के प्रकाशन के क्षेत्र में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं उसकी सहयोगी संस्थाओं ने अद्भुत क्रांति की है। वर्तमान मंहगाई के युग में साहित्य का अनवरत प्रकाशन एवं विक्रय की व्यवस्था अत्यन्त दुरुह कार्य है, परन्तु इस ट्रस्ट ने अपनी सहयोगी संस्थाओं के माध्यम से एक-एक पुस्तक के अनेक-अनेक संस्करण बड़ी संख्या में छापकर समाज तक पहुँचाकर अनुकरणीय कार्य किया है।

प्रस्तुत कृति का अनुवाद पण्डित कमलचन्दजी ने बड़े ही मनोयोग से किया है। यही नहीं इसके प्रकाशन हेतु उन्होंने ही अपने स्तर पर आर्थिक सहयोग लेकर इसके प्रकाशन का बीड़ा उठाया है; इसके लिए उनका जितना-जितना भी आभार माना जाए कम है। भूमिका लेखन हेतु श्रद्धेय डॉ. भारिल्लजी का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता।

आकर्षक कलेवर में प्रकाशन हेतु प्रकाशन विभाग के प्रभारी अखिल बंसल का सहयोग सराहनीय रहा है। आप सभी ज्ञान-दर्पण के माध्यम से अपने विकारी भावों को दूर कर मुक्तिपथ पर अग्रसर हों इसी भावना के साथ –

– ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.
प्रकाशन मंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रस्तावना

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

कविवर पण्डित दीपचन्दजी शाह कृत ज्ञान-दर्पण एक ऐसा दर्पण है; जिसमें अनेक आध्यात्मिक विषय प्रतिबिम्बित हो उठे हैं।

यद्यपि दर्पण में सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं; तथापि लोक में दर्पण का उपयोग लोग स्वयं को देखने में ही अधिक करते हैं। स्वयं के चेहरे निरखने में दर्पण का सर्वाधिक उपयोग होता है। इसीप्रकार ज्ञानदर्पण में भी यद्यपि लोकालोक झलकता है; तथापि आत्मार्थी मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वे ज्ञान-दर्पण में स्वयं को देखें, स्वयं को जानें; अपने ज्ञानोपयोग का उपयोग स्वयं को जाननें-पहिचानने में ही सर्वाधिक करें।

जिसप्रकार प्रतिदिन प्रातःकाल ही नहीं, अपितु दिन में अनेकों बार हम दर्पण का उपयोग स्वयं को निरखने में करते हैं; उसीप्रकार अपने ज्ञानदर्पण में भी हमें प्रतिदिन प्रातःकाल ही नहीं दिन में अनेकों बार स्वयं को, अपने ही आत्मा को निरखना चाहिए, परखना चाहिए।

लगता है इस आत्मावलोकन की प्रेरणा देने के लिए ही कवि ने इस कृति का नाम ज्ञान-दर्पण रखा है। ध्यान रहे, लेखक की एक अन्य कृति का नाम आत्मावलोकन भी है।

जिसप्रकार लोक में दूसरों के दोषों को ही देखनेवाले लोगों को कहा जाता है कि जरा दर्पण में एक बार अपना चेहरा भी देख लो; उसीप्रकार परावलोकन में लगे मुमुक्षुओं को कवि का यह ज्ञान-दर्पण दिखाकर आत्मावलोकन की प्रेरणा दे रहा है। कवि का विश्वास है कि इस ज्ञानदर्पण को देखने से देखनेवालों की बुद्धि निर्मल होगी और उनकी बुद्धि का अर्पण स्वभाव में होगा। इसीलिए तो वे तीसरे छन्द में लिखते हैं कि –

दैखैं ज्ञानदर्पण कौ मति परपण होय,
अर्पण सुभाव कौ सरूप मैं करतु हैं।
उठत तरंग अंग आत्मीक पाइयतु,
अरथ विचार किए आप उघरतु हैं।।

आतम कथन एक शिव ही को साधन है,
अलख अराधन के भाव कौं भरतु हैं।
चिदानन्दराय के लखायवे कौ है उपाय,
याके सरधानी पद सासतौ वरतु हैं।।

क्योंकि कवि को पक्का विश्वास है कि आत्मा के अवलोकन बिना, आत्मा के अनुभव के बिना कितना ही क्रियाकाण्ड क्लेश क्यों न किया जाए; आत्मा का कल्याण होनेवाला नहीं है। इसलिए अब १४वें छन्द में कहता है कि –

आप अवलोके बिना कछु नाहीं सिद्धि होत,
कोटिक कलेशनि की करौ बहु करणी।
क्रिया करकीएँ परभावन की प्रापति है,
मोक्षपंथ सधै नाहीं बंध ही की धरणी।।
ज्ञान उपयोग मैं अखंड चिदानंद जाकी,
सांची ज्ञान भावना ह मोक्ष अनुसरणी।
अगम अपार गुणधारी कौ सुभाव साधै,
दीप संत जीवन की दशा भवतरणी।। १४।।

लोकालोक को देखने-जानने का निषेध नहीं है, तथापि जब तक अपने स्वभाव में स्थिर नहीं होंगे; तब तक अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होनेवाली नहीं; क्योंकि सुखी तो एकमात्र आत्मानुभवी जीव ही हैं। इस बात को वे इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

लोकालोक लखि कैं सरूप में सुथिर रहैं,
विमल अखंड ज्ञानजोति परकासी हैं।
निराकार रूप सुद्धभाव के धरैया महा;
सिद्धभगवान एक सदा सुखरासी हैं।।
ऐसौ निजरूप अवलोकत हैं निहचै में,
आप परतीति पाय जग सौं उदासी हैं।
अनाकुल आतम अनूप रस वेदतु हैं;
अनुभवी जीव आप सुख के विलासी हैं।।२२।।

कवि का स्पष्ट मानना है कि आत्मा के अनुभव के बिना कितने ही व्रत, शील, संयमादि क्यों न किए जाएँ; उनसे बंध ही होने वाला है; मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। वे साफ-साफ लिखते हैं कि –

व्रत तप शील संजमादि उपवास क्रिया,
द्रव्य भाव रूप दोनों बंध कौं करतु हैं।
करमजनित तातैं करम कौ हेतु महा;
बंध ही कौं करैं मोक्षपंथ कौं हरतु हैं।।
आप जैसों होय ताकौं आप कै समान करै,
बंध ही मूल यातैं, बंध को भरतु हैं।
याकौं परंपरा अति मानि करतूति करैं,
तेई महामूढ़ भवसिंधु मैं परतु हैं।। ८६।।

वे तो आद्योपान्त सर्वत्र एक ही बात पर बल देते दिखाई देते हैं, एक आत्मानुभव की ही प्रेरणा देते दिखाई देते हैं। कहते हैं कि अनुभव में आत्मा के अनंत गुणों का रस समाहित है, इसलिए अनुभव के समान कोई अन्य नहीं है; क्योंकि जितने भी पंचपरमेष्ठी जगत में हुए हैं और होंगे, वे सभी इस अनुभव रस के रसिकपने से ही होंगे।

(दोहा)

गुण अनंत के रस सबै, अनुभौ रस के माहिं।
यातैं अनुभौ सारिखौ, और दूसरो नाहिं।। १५३।।
पंच परमगुरु जे भये, जे होंगे जगमाहिं।
ते अनुभौ परसादतैं, यामें धोखों नाहिं।। १५४।।

यद्यपि ४७ शक्तियाँ आदि अनेक विषयों का समावेश इस ज्ञानदर्पण में हुआ है, तथापि सर्वत्र अनुभव की ही प्रेरणा दी गई है।

इसप्रकार यह ग्रन्थ मूलतः आद्योपान्त पठनीय है।

यद्यपि इसकी भाषा पुरानी हिन्दी है; अतः इसका समझना सभी को सहज संभव नहीं है; तथापि इस कठिनाई को सरल सहज अर्थ लिखकर पण्डित कमलचन्दजी, झालरापाटन ने दूर कर दिया है। अतः अब यह कृति सहज बोधगम्य हो गई है। कमलचन्दजी सच्चे आत्मार्थी मुमुक्षु भाई हैं, एक अध्यापक हैं और भक्तिभावना से ही उन्होंने यह अनुवाद कार्य किया है और आपके हाथों तक पहुँचाने का अथक प्रयास भी उन्हीं का है।

सभी मुमुक्षु भाई-बहिन उनके श्रम का लाभ उठावेंगे – इस भावना के साथ विराम लेता हूँ।

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 11 तक/नयप्रज्ञापन
दिव्यध्वनिसार प्रवचन/समाधितंत्र प्रवचन
मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-1,2,3,4/ज्ञानगोष्ठी
श्रावकधर्मप्रकाश/भक्तामर प्रवचन
सुखी होने का उपाय भाग 1 से 8 तक
वी.वि. प्रवचन भाग 1 से 6 तक/कारणशुद्धपर्याय

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के प्रकाशन

समयसार(ज्ञायकभावप्रबोधिनि)/समयसार का सार
समयसार अनुशीलन सम्पूर्ण भाग 1,2,3,4,5
प्रवचनसार (ज्ञायज्ञेयप्रबोधिनि)/प्रवचनसार का सार
प्रवचनसार अनु. भाग-1 से 3/णमोकार महामंत्र
चिन्तन की गहराईयाँ/सत्य की खोज/बिखरे मोती
बारह भावना : एक अनुशीलन/धर्म के दशलक्षण
बालबोध भाग 1,2,3/तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग 1,2
वी.वि. पाठमाला भाग 1,2,3/ध्यान का स्वरूप
आत्मा ही है शरण/सूक्तिसुधा/आत्मानुशासन
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व
47 शक्तियाँ और 47 नय/रक्षाबन्धन और दीपावली
तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ
भ. ऋषभदेव/प्रशिक्षण निर्देशिका/आप कुछ भी कहो
क्रमबद्धपर्याय/दृष्टि का विषय/गागर में सागर
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव/जिनवरस्य नयचक्रम्
पश्चात्ताप/मैं कौन हूँ/मैं स्वयं भगवान हूँ/अर्चना
मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ/महावीर वंदना (कैलेण्डर)
णमोकार एक अनुशीलन/मोक्षमार्ग प्रकाशक का सार
रीति-नीति/गोली का जवाब गाली से भी नहीं
समयसार कलश पद्धानुवाद/योगसार पद्धानुवाद
कुन्दकुन्दशतक पद्धानुवाद/शुद्धात्मशतक पद्धानुवाद

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रकाशन

जान रहा हूँ देख रहा हूँ/जम्बू से जम्बूस्वामी
विदाई की बेला/जिन खोजा तिन पाईयां
ये तो सोचा ही नहीं/अहिंसा के पथ पर
सामान्य श्रावकाचार/षट्कारक अनुशीलन
सुखी जीवन/विचित्र महोत्सव
संस्कार/इन भावों का फल क्या होगा
यदि चूक गये तो

अन्य प्रकाशन

मोक्षशास्त्र/चौबीस तीर्थंकर महापुराण
बृहद जिनवाणी संग्रह/रत्नकरण्डश्रावकाचार
समयसार/प्रवचनसार/क्षत्रचूड़ामणि
समयसार नाटक/मोक्षमार्ग प्रकाशक
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग-2 (पूर्वार्द्ध+उत्तरार्द्ध) एवं भाग3
बृहद द्रव्यसंग्रह/बारसाणुवेक्खा
नियमसार/योगसार प्रवचन/समयसार कलश
तीनलोकमंडल विधान/ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व
पंचास्तिकाय संग्रह/सिद्धचक्र विधान
भावदीपिका/कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मोक्षमार्ग की पूर्णता
परमभावप्रकाशक नयचक्र/पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
इन्द्रध्वज विधान/धवलासार/द्रव्य संग्रह
रामकहानी/गुणस्थान विवेचन/जिनेन्द्र अर्चना
सर्वोदय तीर्थ/निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व
कल्पद्रुम विधान/तत्त्वज्ञान तरंगणी/रत्नत्रय विधान
नवलब्धि विधान/बीस तीर्थंकर विधान
पंचमेरु नंदीश्वर विधान/रत्नत्रय विधान
जैनतत्त्व परिचय/करणानुयोग परिचय
आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार
कालजयी बनारसीदास/आध्यात्मिक भजन संग्रह
छहढाला (सचित्र)/शीलवान सुदर्शन
जैन विधि-विधान/क्या मृत्यु अभिशाप है?
चौबीस तीर्थंकर पूजा/चौसठ ऋद्धि विधान
जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1 से 15 तक
सत्तास्वरूप/दशलक्षण विधान/आ. कुन्दकुन्ददेव
पंचपरमेष्ठी विधान/विचार के पत्र विकार के नाम
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम
परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग/युगपुरुष कानजीस्वामी
अलिंगग्रहण प्रवचन/जिनधर्म प्रवेशिका
वीर हिमाचलतैं निकसी/वस्तुस्वातंत्र्य
समयसार : मनीषियों की दृष्टि में/पदार्थ-विज्ञान
व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ/सुख कहाँ है ?
भरत-बाहुबली नाटक/अपनत्व का विषय
सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता/अष्टपाहुड़
शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति

कविवर शाह दीपचन्दजी कृत

ज्ञान-दर्पण

(दोहा)

गुण अनन्त ज्ञायक विमल, परमज्योति भगवान।
परमपुरुष परमातमा, शोभित केवलज्ञान।। १।।

अर्थ :– केवलज्ञान से सुशोभित परमपुरुष परमातमा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि गुणों सहित द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित निर्मल परमज्योति अर्थात् लोकालोक को प्रकाशित करनेवाले भगवान हैं।

(सवैया इकतीसा/मनहर)

ज्ञानगुणमाहिं ज्ञेय भासना भई है जाके,
ताके शुद्ध आतमाको सहज लखाव है।
अगम अपार जाकी महिमा महत महा,
अचल अखंड एकताको दरसाव है।।
दरसन ज्ञान सुख वीरज अनंत धारैं,
अविकारी देव चिदानन्द ही को भाव है।
ऐसौ परमातमा परमपदधारी जाकौ,
दीप उर देखै लखि निहचै सुभाव है।। २।।

अर्थ :– ऐसे परमात्मा जो कि जगत में सर्वश्रेष्ठ उत्तम पद के धारी हैं, जिनके ज्ञान गुण में समस्त ज्ञेय पदार्थ प्रतिभासित हुए हैं, उन्हें उस अवस्था में भी अपना त्रिकाली शुद्ध आत्मा ही सहज अनुभव में आ रहा है। उस शुद्धात्मा की महिमा का कोई पार नहीं पा सकता। अचल, अखंड एकरूप रहनेवाला आत्मा अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य धारण किये हुये है, निर्विकार है,

जिसमें मात्र अपने चेतना और आनन्द ही का भाव सदा काल रहता है, ऐसे यथार्थ स्वभावरूप परमात्मा को मैं दीपचन्द हृदय में देखता हूँ।

दैखैं ज्ञानदर्पणकौ मति परपण होय,
अर्पण सुभाव कौ सरूप में करतु है।
उठत तरंग अंग आतमीक पाइयतु,
अरथ विचार किए आप उधरतु है।।
आतमकथन एक शिव ही को साधन है,
अलख अराधनके भावकौ भरतु है।
चिदानंदरायके लखायवेकौ है उपाय,
याके सरधानी पद सासतौ वरतु है।। ३।।

अर्थ :– ज्ञानरूपी दर्पण को देखने से बुद्धि तेज हो जाती है और अपने स्वभाव को अपने स्वरूप में समर्पित कर देती है अर्थात् ज्ञानोपयोग पर से विमुख होकर स्वसन्मुख हो जाता है, आत्मा में ज्ञान की तरंगें उठने लगती हैं और आत्मा अनंत गुणों को प्राप्त होता है। ज्ञान स्वभावी आत्मा का कथन ही एक मात्र मोक्ष का साधन है, जो कि अमूर्तिक आत्मा के आराधना के भाव का पोषण करता है। इसी के श्रद्धान से शाश्वत पद (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, यही ज्ञानदर्पण एक मात्र चैतन्य आत्मा को देखने का उपाय है।

परम पदारथकौं देखैं परमारथ है,
स्वारथ सरूपको अनूप साधि लीजिए।
अविनासी एक सुखरासी सोहै घट ही में,
ताकौ अनुभौ सुभाव सुधारस पीजिए।।
देव भगवान ज्ञानकलाकौ निधान जाकौ,
उरमें अनाय सदाकाल थिर कीजिए।
ज्ञान ही में गम्य जाकौ प्रभुत्व अनंत रूप,
वेदि निज भावनामें आनंद लहीजिए।। ४।।

अर्थ :– परम पवित्र त्रिकाली शुद्धात्मा को देखने से ही परमार्थ की प्राप्ति होती है, इसलिए निज हित के लिये अनुपम स्वरूप की

साधना कर लेना चाहिए। कभी नाश को न प्राप्त होनेवाला सुख स्वरूप आत्मा तेरे हृदय में विराजमान है, उसका अनुभव करके स्वभावरूपी अमृत का पान कीजिए। ऐसा सर्वोत्कृष्ट भगवान आत्मा ज्ञान की कलाओं का खजाना है, उसे हृदय में लाकर सदैव उसमें ही लीन रहना चाहिये। वह आत्मा मात्र ज्ञान गम्य है, अनन्त प्रभुत्व रूप है, उसे अपने परिणामों में अनुभव कर आनन्द का अनुभव कीजिए।

दशा है हमारी एक चेतना विराजमान,
आन परभावनसौं तिहूं काल न्यारी है।
अपनौ स्वरूप शुद्ध अनुभवे आठौं जाम,
आनन्द कौ धाम गुणग्राम विसतारी है।
परम प्रभाव परिपूरन अखंड ज्ञान,
सुख कौ निधान लखि आन रीति डारी है।
ऐसी अवगाढ़ गाढ आई परतीति जाके,
कहै दीपचन्द ताकौ वंदना हमारी है।।५।।

अर्थ :– संसार में रागद्वेष परिणमन की दशा में भी, जीव समस्त पर भावों से त्रिकाल भिन्न एक चैतन्यरूवरूप ही विराजमान है। ऐसे शुद्ध स्वरूप को जो ज्ञानी जीव आठों याम (दिनरात) निरन्तर अनुभव करते हैं, वे आनन्दमय सुखस्वरूप आत्मा के अनन्त गुणों को अनुभव करते हैं। जिसने अपने परिपूर्ण अखंड ज्ञान के प्रभाव से सुख के खजाने को ही देखकर अन्य सब कुछ छोड़ दिया है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि ऐसे शुद्धात्म स्वरूप की जिसको दृढ़ (गाढ़अवगाढ़) श्रद्धा हो गई है, उन ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवों को हमारा नमस्कार हो।

परम अखंड ब्रह्मंड विधि लखै न्यारी,
करम विहंड करै महा भवबाधिनी।
अमल अरूपी अज चेतन चमतकार,
समैसार साधै अति अलख अराधिनी।

गुणकौ निधान अमलान भगवान जाकौ,
प्रतछ दिखावै जाकी महिमा अवाधिनी।
एक चिदरूपकौ अरूप अनुसरै ऐसी,
आतमीक रुचि है अनंतसुखसाधिनी।।६।।

अर्थ :– जो अपने परम अखंड ब्रह्मस्वरूप को देखती है, वही विधि (प्रक्रिया) संसार में बाधक कर्म को खंडित कर देती है तथा शुद्ध अमूर्तिक अनादि निधन चैतन्य चमत्कार रूप समयसार अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप की साधना करती है, जो कि चर्मचक्षुओं से नहीं देखी जा सकती है। जो अनन्त गुणों के खजाने परम पवित्र भगवान आत्मा की अबाधित महिमा को प्रत्यक्ष दिखाती है, ऐसी सम्यक् रुचि अपने चैतन्य स्वरूप का ही अनुसरण करती है। वह सम्यक् श्रद्धा अनन्त सुख को साधनेवाली है।

अचल अखंड पद रुचिकी धरैया भ्रम-
भावकी हरैया एक ज्ञानगुणधारिनी।
सकति अनंतकौ विचार करै बारबार,.
परम अनूप निज रूप कौं उधारिनी।
सुखको समुद्र चिदानंद देखै घटमांहि,"
मिटे भवबाधा मोखपंथकी विहारिनी।
दीप जिनराजसौं सरूप अवलोकै ऐसी,
संतनकी मति महामोक्षअनुसारिनी।। ७।।

अर्थ :– दीपचन्दजी कहते हैं कि संत पुरुष अर्थात् ज्ञानी गुरुओं की बुद्धि पवित्र अखण्ड पद की रुचि को धारण किये हुये है, जो भ्रमभाव (मिथ्याभाव) को हर कर ज्ञानादि गुणों को धारण कराने वाली है। बार-बार विचारकर उत्कृष्ट सुन्दर निजस्वरूप को प्रगट करनेवाली है। चिदानन्द स्वरूप जो सुखों का समुद्र है, उसे हृदय में देखनेवाली है। साथ ही अनंत संसार की बाधा मिटाकर मोक्षपथ में विचरण करानेवाली है। जिनेन्द्र भगवान जैसे अपने स्वरूप को ही देखती है और जो परम सुख का अनुसरण कराती है।

चेतन सरूप जो अनूप है अनादि हि कौ,
निहचै निहार एक ताही कौ चहतु है।
स्वपरविवेक कला पाई नित पावन है,
आतमीक भावन मैं थिर है, रहतु हैं।
अचल अखंड अविनासी सुखरासी महा,
उपादेय जानि चिदानंद को गहतु हैं।
कहे दीपचन्द ते ही आनंद अपार लहि,
भवसिन्धुपार शिवद्वीपकौं लहतु हैं।।८।।

अर्थ :– ज्ञानदर्शन चेतनारूप उपयोग जो कि जीव का अनादि से अद्भुत अलौकिक स्वरूप है, उसी के लक्ष्य पूर्वक निरन्तर उसी की चाह बनी रहना चाहिये। स्वपरविवेकरूप भेदज्ञान की कला जो कि परम पवित्र है, उसके कारण से आत्मा अपने भावों में ही स्थिर रहता है, साथ ही अपने स्वरूप को अचल, अखंड, अविनाशी अपार सुख की राशि आदि विशेषणों से उपादेयरूप जानकर ज्ञानआनंद स्वभाव को ही ग्रहण करता है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि ऐसे ज्ञानी पुरुष अपार आनन्द को प्राप्त होकर दुखरूपी संसारसमुद्र से पार होकर मोक्षरूपी द्वीप में निवास करते हैं।

चेतनको अंक एक सदा निकलंक महा,
करमकलंक जामैं कोऊ नहीं पाइये।
निराकार रूप जो अनूप उपयोग जाके,
ज्ञेय लखैं ज्ञेयाकार न्यारौ हू बताइये।
बीरज अनंत सदा सुखकौ समुद्र आप,
परम अनंत तामैं और गुण गाइये।
ऐसो भगवान ज्ञानवान लखे घट ही में,
ऐसो भाव भाय दीप अमर कहाइये।।९।।

अर्थ :– चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसा आत्मद्रव्य सदाकाल शुद्ध है, जिसमें कर्मरूपी मैल प्रवेश ही न कर पाया है। ऐसा अनुपम आत्मद्रव्य जो समस्त ज्ञेयों को जाननेवाला होने पर भी ज्ञानपर्याय

ज्ञेयाकाररूप परिणमित होते हुये भी ज्ञान भिन्न है ज्ञेय भिन्न है ऐसा अदभुत आत्मद्रव्य है। अनंत वीर्य, अनंत सुख, अनंत ज्ञानादि, अनंत परम पवित्र गुणों का समुद्र है ऐसे भगवान स्वरूप आत्मद्रव्य को ज्ञानी जीव सदैव अपने (हृदय) में देखता हुआ अमरत्व को प्राप्त होता है।

व्यवहार नय के धरैया व्यवहार नय,
प्रथम अवस्था जामैं करालंब कह्यौ है।
चिदानंद देखै व्यवहार, झूंठ भासतु है,
आतमीक अनुभौ सुभाव जिहिं लह्यौ है।
देव चिदरूप की अनूप अवलोकनि मैं,
कोऊ विकलप भाव भेद नहिं रह्यौ है।
चेतन सुभाव सुधारस पान होय जहाँ,
अजर–अमरपद तहाँ लहलह्यौ है।।१०।।

अर्थ :– व्यवहार नय का पक्षपाती मानता है कि व्यवहार नय प्रथम अवस्था (साधक अवस्था) में हस्तावलंब के रूप में कहा जाता है; परन्तु अपने चिदानन्द स्वरूप को देखने पर वही झूठा साबित होता है, जब स्वभावरूप अपने आत्मा का अनुभव होता है। अपना भगवान स्वरूप आत्मा ज्ञान का ज्ञेय व ध्यान का ध्येयरूप अनुभव में आता है, उस समय कोई विकल्प व भेद भासित नहीं होता। जहाँ अपने चैतन्य स्वभावरूप अमृत का पान होता है, वहीं अजर-अमर अविनाशी पद सुशोभित होता है।

ज्ञान उर होत ज्ञाता उपादेय आप मानै,
जानै पर न्यारौ जाके कला है विवेक की।
करमकलंक पंक डंक नहीं लागै कोऊ,
देव निकलंक रुचि भई निज एक की।
निरभै अखंडित अबाधित सरूप पायौ,
ताहिकरि मेटी भ्रमभावना अनेक की।

देव हियबीच बसे सासतौ निरंजन है,
सो ही धनि दीप जाके रीति सुध टेक की।।११।।

अर्थ :– साधक ज्ञानी धर्मात्मा भेदविज्ञानी जीव के हृदय में निरन्तर ज्ञान ही रहता है। वह अपने ज्ञाता स्वभाव को ही उपादेय मानता है और अपने भेदविज्ञान की कला से अपने को समस्त पर पदार्थों से भिन्न ही जानता है, जिसके प्रभाव से उसमें कर्मरूपी मल (कीचड़) का भी असर नहीं होता है, ऐसे अपने एक निष्कलंक भगवान आत्मा की रुचि जिसे हुई है, उसी ने निर्भय होकर अखंडित अबाधित स्वरूप को प्राप्त किया है और अनेकरूप भ्रम की भावना मेट दी है। दीपचन्दजी कहते हैं कि जिसको ऐसा देव निरन्तर अपने हृदय में भासित होता है, वह विवेकी पुरुष धन्य है और उसका व्यवहार भी धन्य है।

मेरो ज्ञानज्योति कौ उद्यौत मोहि भासतु है,
तातैं परज्ञेय को सुभाव त्याग दीनौ है।
एक निराकार निरलेप जो अखंडित है,
ज्ञायक सुभाव ज्ञानमाहिं गहि लीनौ है।
जाकी प्रभुता में उठि गये हैं विभाव भाव,
आतम लखाव ही तैं आप पद चीनौ है।
ऐसे ज्ञानवान के प्रमान ज्ञानभाव आपौ,
करनौ न रह्यौ कछु कारिज नवीनौ है।।१२।।

अर्थ :– ज्ञानी जीव भावना भाता है कि मेरी ज्ञान ज्योति ज्यों की त्यों वैसी ही मुझे अनुभव में आती है, इसलिए परज्ञेयों का ज्ञान भी त्यागने योग्य है। एक मात्र निराकार निर्लेप अखंडित ज्ञायक स्वभाव है उसे ही ज्ञान में ग्रहण करना है, जिसके प्रभाव से समस्त विभाव भाव नष्ट हो गये हैं और अपने आत्मा को देखने से अपने पद की प्राप्ति होती है । ऐसे ज्ञानी जीवों को अपने को अपने प्रमाण ज्ञान भाव से देखने पर कोई नवीन कार्य करना शेष नहीं रहता है अर्थात् अपने को परिपूर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप ही देखता है।

मेरो है अनूप चिदरूप रूप मोहिमाहिं,
जाकै लखै मिटै चिर महा भवबाधना।
जाके दरसाव में विभाव सों विलाय जाय,
जाकी रुचि कीये सधै अलख अराधना।
जाकी परतीति रीति प्रीतिकरि पाई तातैं,
त्यागी जगजाल जेती सकल उपाधना।
अगम अपार सुखदाई सब संतन कौं,
ऐसी दीप साधै ज्ञानी साँची ज्ञानसाधना।।१३।।

अर्थ :– मेरा अनुपम अनादि निधन स्वरूप मुझ में ही है, जिसकी दृष्टि करने मात्र से अनादि की भवबाधा (दुख) मिट जाती है। जिस स्वरूप के दर्शन से समस्त विभाव भाव विलय को प्राप्त होते हैं और जिसकी रुचि होने पर अमूर्तिक स्वरूप आत्मा की आराधना प्रारंभ हो जाती है। जिससे स्वरूप की श्रद्धा होने पर उसकी लगन लग जाती है, उसी ने समस्त जगत जंजाल जो उपाधि मात्र है, त्याग दिया है।

कविवर पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि संतों को अगम-अपार सुख देनेवाली ऐसी ज्ञान की साधना ज्ञानी जीव ही करते हैं।

आप अवलोके बिना कछु नाहीं सिद्धि होत,
कोटिक कलेशनि की करौ बहु करणी।
क्रिया पर कीएं परभावन की प्रापति है,
मोक्षपंथ सधै नाहीं बंध की ही धरणी।
ज्ञान उपयोग में अखंड चिदानंद जाकी,
सांची ज्ञान भावना है मोक्षअनुसरणी।
अगम अपार गुणधारी कौ सुभाव साधै,
दीप संत जीवन की दशा भवतरणी।।१४।।

अर्थ :– कविवर पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि अपने आप को जाने बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होगा और जितनी करणी (क्रिया) होगी करोड़ों दुखों को देने वाली होगी, क्योंकि पर की क्रिया से पर

भाव ही होते हैं, उससे मोक्षमार्ग की साधना तो होती ही नहीं उलटा बन्ध ही होता है। इसलिए जिसके ज्ञानोपयोग में अखंड चिदानन्द की सच्ची ज्ञान भावना है वही मोक्षमार्ग की अनुसारिणी है। ऐसे अनन्त गुणों के समूह रूप स्वभाव की साधना जो करते हैं। ऐसे संत जीवों की दशा भवसमुद्र से पार करानेवाली है।

वेदत सरूप पद परम अनूप लहै,
गहै चिदभाव महा आप निज थान है।
द्रव्य कौ प्रभाव अरु गुण कौ लखाव जामैं,
परजाय को उपावै ऐसो गुणवान है।
व्यय उतपाद ध्रुव सधै सब जाहि करि,
ताहीं तैं उदोत लक्ष्य लक्षण को ज्ञान है।
महिमा महत जाकी कहांलौं कहत कवि,
स्वसंवेदभाव दीप सुख कौ निधान है।। १५।।

अर्थ :– कविवर अपने स्वसंवेदन की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिस समय अपने स्वरूप का वेदन निरपेक्ष रूप से होता है, उस समय परम अनुपम पद अर्थात् अपने भाव की प्राप्ति होती है। अपने शाश्वत द्रव्य के प्रभाव से उसमें पाये जाने वाले अनंत गुणों और उनकी पर्यायों का वेदन करता है तथा उसी त्रिकाली ध्रुव के अवलम्बन में उत्पाद, व्यय, ध्रुव, सब समाये हैं, इसलिए लक्ष्य-लक्षण का ज्ञान भी प्रगट होता है। ऐसा स्वसंवेदन रूप स्वभाव अनन्त सुख का खजाना है और उसकी महिमा अपरम्पार है।

चिदानंदराइ सुखसिन्धु है अनादि ही को,
निहचै निहारि ज्ञानदिष्टि धरि लीजियै।
नय विवहार ही तैं करमकलंक पंक,
जाके लागि आए तौऊ सुद्धता गहीजियै।
जैसी दिष्टि देखै सब ताकौ तैसो फल होइ,
सुध अवलोके सुध उपयोगी हूजियै।

दीप कहैं देखियतु आतम सुभाव ऐसो,
सिद्ध के समान ज्ञानभावना करीजियै।। १६।।

अर्थ :– आत्मद्रव्य का स्वरूप निश्चय से देखने पर अनादि से आनंद का रसकन्द एवं ज्ञान का समुद्र है। व्यवहार नय से कर्मरूपी मैल से युक्त कहा जाता है, तथापि उसे शुद्ध ही देखना चाहिये; क्योंकि जिसकी जैसी दृष्टि होती है, उसकी वैसी ही सृष्टि होती है, इसलिए शुद्ध को देखने पर शुद्धोपयोगी ही होगा । पण्डितजी कहते हैं कि जब ऐसे शुद्ध स्वभाव को देखते हैं, उस समय साक्षात् सिद्ध के समान ज्ञान मात्र आत्मा ही अनुभव में आता है।

मेटत विरोध दोऊ नयन को पक्षपात,
महा निकलंक स्यातपद अंकधारणी।
ऐसी जिनवाणी के रमैया समैसार पावैं,
ज्ञानज्योति लखैं करैं करमनिवारणी।
सिद्ध है अनादि यह काहू पैन जाइ खंड्यो,
अलख अखंड रीति जाकी सुखकारणी।
लहिकैं सुभाव जाकौं रहि है सुथिर जेही,
तेही जीव दीप लहैं दशा भवतारणी।। १७।।

अर्थ :– स्यात् पद मुद्रा से अंकित जिनवाणी दोनों नयों का विरोध मिटानेवाली है। ऐसी जिनवाणी के मर्म को समझनेवाले शुद्धात्म स्वभाव को प्राप्त होते हैं और ज्ञानज्योति को प्रकाशित कर समस्त कर्म मल को दूर करते हैं। ऐसा स्वरूप जो अनादि से सिद्ध है, जिसे किसी ने प्रगट नहीं किया और न कोई इसे नष्ट (खंडित) कर सकता है, वह स्वरूप इन्द्रिय अगोचर और सुखकारी है। ऐसे स्वभाव को ग्रहण करके जो सादि अनन्त काल के लिये स्थिर दशा को प्राप्त होते हैं, वही संसार समुद्र से पार होते हैं।

मानि परपद आपौ भूले ए अनादि ही के,
ऐसे जगवासी (निजरूप) न सँभारै हैं।

घट ही में सासतो निरंजन जो देव बसै,
ताकौ नहीं देखै तातैं हित कौं निवारै हैं।
जोति निजरूप की न जागी कहुँ हीयेमाहिं,
यातैं सुखसागर सुभाव कौ विसारै हैं।
देशना जिनेन्द्र दीप पाय जब आपा लखैं,
होय परमातमा अनन्त सुख धारै हैं।। १८।।

अर्थ :– यह जीव अनादि काल से परपद में अपनापन मानकर स्वयं को भूला हुआ होने से अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता है। स्वयं के हृदय में विराजमान शाश्वत देव उसे नहीं देख पाने के कारण अपना हित नहीं कर पाता है। अपने हृदय में ज्ञानज्योति प्रकाशित न होने के कारण सुखसागर रूपी स्वभाव को भूला हुआ है, परन्तु जब इस जीव को जिनेन्द्र भगवान की सच्ची देशना प्राप्त होती है, तब यह स्वयं को जान कर परमात्मा बन कर अनन्त सुख को धारण करता है।

सहज आनंद पाइ रह्यौ निज में लौ लाइ,
दौरि-दौरि गेय में धुकाई क्यों परतु है ?
उपयोग चंचल के कीए ही अशुद्धता है,
चंचलता मेटैं चिदानंद उधरतु है।
अलख अखंड जोति भगवान दीसतु है,
नैयकतैं देखि ज्ञाननैन उघरतु हैं।
सिद्ध परमातमा सौ निजरूप आतमा है,
आप अवलोकि दीप सुद्धता करतु हैं।।१९।।

अर्थ :– पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि जीव तू स्वयं आनन्द स्वरूप है, इसलिए निज में ही लगन लगाए रहो। बार-बार ज्ञेयसन्मुख होकर उन पर अपने उपयोग को क्यों भ्रमाना है ? इसप्रकार ज्ञेयों पर उपयोग लगाने से चंचलता के कारण अशुद्धता है, उसी उपयोग को अपने चिदानंद स्वरूप में स्थिर करके चंचलता दूर होने पर उपयोग अपने पर केन्द्रित होता है और एकमात्र अखंड अमूर्तिक

ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञान नेत्र के उघाड़ होने पर दिखाई देता है। सिद्ध परमात्मा के समान ही अपना निज आत्मा शुद्ध है, ऐसा देखने पर सिद्ध समान शुद्धता आती है।

अचल अखंड ज्ञानजोति है सरूप जाकौ,
चेतनानिधान जो अनंत गुणधारी है।
उपयोग आतमीक अतुल अबाधित है,
देखिये अनादि सिद्ध निहचै निहारि है।
आनंदसहित कृतकृत्यता उद्योत होइ,
जाहि समै ब्रह्मदिष्टि देत जो सँभारी है।
महिमा अपार सुखसिन्धु ऐसो घट ही मैं,
देव भगवान लखि दीप सुखकारी है।। २०।।

अर्थ :– पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि यह जीव अनादि से अपने स्वभाव रूप स्थिर अखंड ज्ञान-दर्शन चेतना आदि गुणों का खजाना है। निश्चय से देखें तो इस आत्मा का उपयोग जो अतुल अबाधित और अनादि सिद्ध आनन्दसहित कृतकृत्यतारूप प्रकाशित है। जिससमय ऐसे ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा पर दृष्टि जाती है, उसी समय हृदय में अपार महिमावन्त सुखसमुद्र दिव्य भगवान आत्मा का अनुभव होता है जो सुख करनेवाला है।

परपरिणाम त्यागि तत्त्व की संभार करैं,
हरै भ्रमभाव ज्ञानगुण कै धरैया हैं।
लखै आपा आपमाहिं रागदोष भाव नाहिं,
सुद्ध उपयोग एक भाव के करैया हैं।
थिरता सुरूप ही की स्वसंवेदभावन मैं,
परम अतेन्द्री सुखनीर के ढरैया हैं।
देव भगवान सौ सरूप लखै घट ही मैं,
ऐसे ज्ञानवान भवसिन्धु के तरैया हैं।। २१।।

अर्थ :– पण्डित दीपचन्दजी ज्ञानी जीव का स्वरूप बताते हुये कहते हैं कि जो ज्ञानी जीव तत्त्व की सँभार पूर्वक विभाव भावों का त्याग करता है, वही भ्रम का निवारण कर अनंत गुणों को धारण करता है। एकमात्र शुद्धोपयोग रूप भावों का ही कर्ता होकर निज को निज में देखकर राग-द्वेष नहीं करता है और अपने स्वरूप की स्थिरतापूर्वक स्वसंवेदन भावों द्वारा परम अतीन्द्रिय सुख रूपी जल से स्नान करता है। जो परमात्मा स्वरूप भगवान आत्मा को अपने में देखता है वही ज्ञानी जीव संसारसमुद्र से पार होता है।

लोकालोक लखिकै सरूप में सुथिर रहैं,
विमल अखंड ज्ञानजोति परकासी हैं।
निराकार रूप सुद्धभावके धरैया महा,
सिद्ध भगवान एक सदा सुखरासी हैं।
ऐसो निजरूप अवलोकत हैं निहचै मैं,
आप परतीति पाय जगसौं उदासी हैं।
अनाकुल आतम अनूप रस वेदतु हैं,
अनुभवी जीव आप सुख के विलासी हैं।।२२।।

अर्थ :– ज्ञानी जीव लोकालोक के स्वरूप को देखकर अपने स्वरूप में स्थिर रहता हुआ विमल अखंड ज्ञानज्योति प्रकाशित करता है। जिस तरह सिद्ध भगवान निराकार शुद्धभाव के धारक सदा सुखरूप रहते हैं, इसीप्रकार ज्ञानी जीव भी अपने स्वरूप को देखता हुआ श्रद्धान करता हुआ जगत से उदासीन रहता है। ऐसे अनुभवी जीव अनुपम अनाकुल रस का वेदन करते हुये सुख में मग्न रहते हैं।

करम अनादि जोग जातैं निज जान्यौ नाहिं,
मानि परमाहिं आपौ भव में बहुत है।
गुरु उपदेस समै पाय जो लखावे जीव,
आप पद जानै भ्रमभाव को दहतु है।
देवन को देव सो तो सेवत अनादि आयौ,
निजदेव सेये बिनु शिव न लहतु है।

आप पद पायवेकौं श्रुत सौं बखान्यौ जिन,
तातैं आतमीक ज्ञान सबमें महतु है।। २३।।

अर्थ :– अनादिकाल से इस जीव ने कर्म के संयोग से अपने आपको जाना नहीं और पर पदार्थ में अपनापन मानकर परभावों में ही बहता रहता है, ऐसे समय सद्गुरु का उपदेश प्राप्त कर (काललब्धि आने पर) अपने आपको पहिचानता हुआ भ्रमभाव को जलाकर नष्ट कर देता है। यह जीव अज्ञानी होकर देवाधिदेव परमात्मा को तो अनादि काल से सेवन करता आया है, लेकिन निज आत्मदेव के सेवन बिना मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं होती है। अपने स्वरूप की प्राप्ति का स्वरूप जिनेन्द्र देव ने जिनवाणी में कहा है, अतः निज आत्मज्ञान ही सबसे महत्त्वपूर्ण है।

गगन के बीचि जैसें घन घटामाहिं रवि,
आप छिप रह्यौ तोऊ तेज नहिं गयौ है।
करम संयोग जैसे आवर्‌यो है उपयोग,
गुपत सुभाव जाकौ सहज ही भयो है।
ज्ञेय को लखत ऐसो ज्ञानभाव यामैं कोऊ,
परम प्रतीति धारि ज्ञानी लखि लयो है।
उपयोगधारी जामैं उपयोग कीएं सिद्धि,
और परकार नहीं जिनबैन चयो है।।२४।।

अर्थ :– जिसप्रकार आकाश में बादलों की घनघोर घटाओं के बीच सूर्य छिपा हुआ है, परन्तु फिर भी उसका तेज कहीं नहीं जाता है। उसीप्रकार इस चैतन्य का उपयोग भी कर्मों के संयोगरूपी आवरण से ढका हुआ सहज ही गुप्त स्वभाव को ही प्राप्त रहता है। अनेक ज्ञेयों को प्रकाशित करनेवाले ज्ञानभाव ही ज्ञानी को श्रद्धा का श्रद्धेय बनाता है। उपयोग लक्षण को धारण करनेवाले जीव में उपयोग लगाने पर ही सिद्धि होती है और किसीप्रकार नहीं – ऐसा जिनेन्द्र भगवान की वाणी में आया है।

महा दुखदानी भवथिति के निदानी जातैं,
होय ज्ञान हानि ऐसै भावके चमैया हैं।
अति ही विकारी पापपुंज अधिकारी सदा,
ऐसे राग दोष भाव तिनके दमैया हैं।
दया दान पूजा सील संजमादि सुभभाव,
ए हू पर जानैं नाहिं इनमें उम्हैया हैं।
सुभासुभ रीति त्यागि जागे हैं सरूपमाहिं,
तेई ज्ञानवान चिदानंद के रमैया हैं।। २५।।

अर्थ :– ऐसे परिणाम जो बहुत दुख देनेवाले तथा संसार बंध का निदान करनेवाले हैं, जिनसे ज्ञान विकसित नहीं हो पाता – ऐसे भावों में जो रस लेते हैं, वे बहुत विकार भाव होने के कारण पापसमूह के अधिकारी हैं। ज्ञानी जीव ऐसे राग-द्वेष विकारी भावों का दमन करनेवाले हैं। दया, दान, पूजा, शील, संयम, जप-तप आदि जो शुभ भाव हैं, इनको पररूप मानकर इनको करने में प्रसन्न नहीं होते हैं, वे ही ज्ञानी जीव ऐसी शुभाशुभ परिणति को छोड़कर अपने स्वभाव के प्रति जागृत रहते हैं, अपने चिद्-आनन्द स्वरूप आत्मा में रमण करते हैं।

देहपरिमाण गति गतिमाहिं भयौ जीव,
गुपत है रह्यौ तोऊ धारैं गुणवृंद है।
करमकलंक तोऊ जामैं न करम कोऊ,
राग दोष धारे हू विसुद्ध निरफंद है।
धारत सरीर तौऊ आतमा अमूरतीक,
सुध पक्ष गहे एक सदा सुखकंद है।
निहचै विचार देख्यौ सिद्ध सो सरूपदीप,
मेरै तो अनादिको सरूप चिदानन्द है।। २६।।

अर्थ :– प्रत्येक गति में शरीर के आकार प्रमाण जीव रहता है, परन्तु अमूर्तिक होने के कारण दिखाई नहीं देता है, फिर भी अपने अनंत गुणों को धारण करता है। कर्मरूपी मल के साथ रहने पर भी

जीव में कोई भी कर्म नहीं पाया जाता है। कर्म के कारण राग-द्वेषरूप होते हुये भी सदाकाल पूर्ण शुद्ध तथा कर्म के फन्दे से रहित निर्बन्ध है। शरीररूप आकार ग्रहण करते हुये भी आत्मा अमूर्तिक ही है। सदाकाल शुद्धता रूप रहने के कारण सुख से भरपूर ही है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि निश्चयनय से देखा जाये तो मेरे आत्मा का स्वरूप अनादि काल से सिद्ध समान आनन्द रूप ही है।

व्यवहारपक्ष परजाय धरि आयौ तौऊ,
सुद्धनै विचारे निज पर मैं न फसा है।
ज्ञान उपयोग जाकी सकति मिटाई नाहिं,
कहा भयौ जो तू भववासी होय वसा है।
द्वैत को विचार कीएं भासत संयोग पर,
देखै पद एक पर ओर नहिं धसा है।
निहचै विचारकैं सरूपमैं सँभारि देखी,
मेरी तो अनादि ही की चिदानन्द दसा है।।२७।।

अर्थ :- व्यवहारनय की अपेक्षा अनादिकाल से अनेक पर्याय धारण करता आया है, फिर भी शुद्धनिश्चयनय से देखा जाये तो जीव पर में फँसा ही नहीं है। अनादि से संसार में रहने पर भी ज्ञानोपयोग रूप शक्ति कम नहीं हुई है। संयोग का (द्वैत का) विचार करने पर संयोग ही दिखाई देता है, परन्तु एक को देखने पर ज्ञात होता है कि उसमें पर पदार्थ घुसे ही नहीं हैं, निश्चयनय से स्वरूप का विचार कर देखा जाये तो अनादिकाल से चैतन्य व आनन्दरूप ही मेरी दशा है।

ज्ञान की सकति महा गुपति भई है तोऊ,
ज्ञेय की लखैया जाकी महिमा अपार है।
प्रतच्छ प्रतीतिमैं परोक्ष कहो कैसे होई,
चिदानंद चेतन को चिन्ह अविकार है।
परम अखंड पद पूरन विराजमान,
तिहुँ लोकनाथ कीएं निहचै विचार है।

अखै पद यौ ही एक सासतो निधान मेरे,
ज्ञान उपयोग में सरूप की संभार है।। २८।।

अर्थ :– ज्ञान की शक्ति अनंत है जो प्रगट दिखाई नहीं देते हुये भी ज्ञेयों को जानने से जिसकी महिमा अनन्त अपार है। ऐसे चिदानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा जिसका अविकार रूप लक्षण है, वह प्रत्यक्ष प्रतीति से अनुभव में आता है परोक्ष तो कैसे हो सकता है ? निश्चय से विचार किया जाये तो भगवान आत्मा सदाकाल पवित्र अखंड विराजमान् तीन लोक का नाथ अपने आप में परिपूर्ण रूप से रहता है। ज्ञानोपयोग द्वारा स्वरूप को देखने पर एक अखंड शाश्वत अनन्त गुणों के खजानेरूप मेरा पद है।

बहु विसतार कहु कहाँलौं बखानियतु,
यह भववास जहाँ भावकी असुद्धता।
त्यागि गृहवास है उदास महाव्रत धारैं,
यह विपरीत जिन लिंगमाहिं सुद्धता।
करम की चेतनामैं शुभउपयोग सधै,
ताहीमें ममत ताके तातैं नाहीं सुद्धता।
वीतराग देव जाको यौ ही उपदेश महा,
यह मोखपद जहाँ भाव की विसुद्धता।। २९।।

अर्थ :– इस जीव के अनादि काल से संसार में रहने के कारण रागद्वेष रूप भावों की अशुद्धता का वर्णन कहाँ तक करें, उदासीन होकर घर को छोड़ कर मुनिलिंग धारण कर महाव्रत पालन करता है और कर्मफल चेतना में औदयिक परिणाम रूप शुभोपयोग की साधना करता है, उसी में ममत्व होने से शुद्धता को प्राप्त नहीं होता – यह विपरीत मार्ग है।

वीतराग सर्वज्ञ देव का तो ऐसा उपदेश है कि एक मात्र वहीं मोक्षपद प्राप्त होता है, जहाँ भावों की शुद्धता है।

ज्ञान उपयोग जोग जाकौ न वियोग हूवो,
निहचै निहारैं एक तिहुँलोकभूप है।

चेतन अनंत चिह्न सासतौ विराजमान,
गति-गति भ्रम्यौ तोऊ अमल अनूप है।
जैसें मणिमाहिं कोऊ काँचखंड मानै तोऊ,
महिमा न जाय वामैं वाहीकौ सरूप है।
ऐसे ही सँभारिकै सरूप कौ विचार्‌यौ मैंने,
अनादिकौ अखंड मैरो चिदानंद रूप है।। ३०।।

अर्थ :– चिदानन्द चैतन्य आत्मा की महिमा का वर्णन करते हुये कहते हैं कि यह तीन लोक का स्वामी चैतन्य स्वरूप भगवान आत्मा जो कि ज्ञानोपयोग रूप है, जिसका आजतक उससे वियोग नहीं हुआ है। निश्चय से देखने पर चारों गतियों में भ्रमण करते हुए भी परम पवित्र अनुपम ही है, क्योंकि अनंत चैतन्य चिह्न जिसमें सदा काल रहता है, जिसके कारण तीनों लोकों का स्वामी होता है। जिसप्रकार चिन्तामणि रत्न को कोई काँच का टुकड़ा माने तो भी उसकी महिमा नहीं जाती और उसका स्वरूप उसी में रहता है। मैंने अपने चैतन्य स्वरूप को भलीभाँति विचारकर निर्णय किया है कि मैं अनादि अखंड शाश्वत चिदानन्द रूप हूँ।

(दोहा)

चिदानन्द आनंदमय, सकति अनंत अपार।
अपनौ पद ज्ञाता लखै, जामैं नहिं अवतार।। ३१।।

अर्थ :– ज्ञानी जीव अपने स्वरूप को सदाकाल आनंदमय अनंत अपार शक्तिरूप मात्र ज्ञाता मानता है, जिसमें जन्म-मरण नहीं है।

(छप्पय)

सहज परम धन धरन, हरन सब करन भरममल।
अचल अमल पद रमन, वमन पर करि निज लहि थल।।
अतुल अबाधित आप, एक अविनासी कहिये।
परम महासुखसिन्धु, जास गुण पार न लहिये।।

जोतिसरूप राजत विमल, देव निरंजन धरमधर।
निहचै सरूप आतम लखै, सो शिवमहिला होय।। ३२।।

अर्थ :– कवि कहते हैं कि यह शुद्धात्मा सहज ही परमानन्दरूपी धन का धारक है और सब भ्रमरूपी मल को दूर करनेवाला है। अपने अचल पवित्र पद में लीन रहने के कारण समस्त परद्रव्यरूप भावों का वमन करके अपने निजस्वरूप में ही लीन रहता है। शुद्धात्मा वह अतुल्य बल का धारी किसी से बाधित नहीं है, जो एकरूप शाश्वत परम सुखसिन्धु है, जिसके गुणों का पार नहीं पाया जा सकता है।

वह सदाकाल प्रकाशमान परम पवित्र बिना कर्म कालिमा के अपने स्वभाव रूपी धर्म को धारण किये हुये है, ऐसे यथार्थ स्वरूपी आत्मा को जो दृष्टि में लेता है, वही मोक्षरूपी पृथ्वी में निवास करता है।

(सवैया इकतीसा/मनहर)

मुनिलिंग धारि महाव्रतको सधैया भयो,
आप बिनु पाए बहु कीनी शुभकरणी।
यतिक्रिया साधिकै समाधिकौ न जानै भेद,
मूढ़मति कहै मोक्षपद की वितरणी।
करम की चेतनामैं सुभ उपयोग रीति,
यह विपरीत ताहि कहै भवतरणी।
ऐसे तौ अनादि की अनंत रीति गहि आयौ,
क्रिया नहिं पाई ज्ञानभूमि अनुसरणी।। ३३।।

अर्थ :– कवि कहते हैं कि इस जीव ने अनादि काल से अपने आपको पहिचाने बिना कितनी ही बार मुनिलिंग धारण करके महाव्रत की साधना की और अनेक प्रकार की शुभ क्रियायें (पूजा, दान, व्रत, शील आदि) की, ऐसे साधुपद की साधना करके भी समाधि के स्वरूप को नहीं जाना। मिथ्यादृष्टि पूर्वोक्त प्रकार से मोक्षमार्ग से विपरीत क्रियाओं को ही मोक्षपद की वैतरणी कहता है। कर्म के उदय में होनेवाली शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति जो मोक्षमार्ग से विपरीत है, उसे ही

संसार-समुद्र से पार करनेवाली मानता है; परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि ऐसा तो यह जीव अनादि काल से करता आया है, वास्तव में ज्ञानक्रिया का अनुसरण आज तक नहीं किया। कहा भी है – **"ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः"**।

सुभ उपयोगसेती जैसे पुण्यबन्ध होय,
पात्तर को दान दीए भोगभूमि जाइए।
सतसंगसेती जैसे हित कौ सरूप सधै,
थिरता के आएं जैसे ज्ञान को बढ़ाइए।
गृहवास त्याग सो उदासभाव कीए होय,
भेदज्ञान भावमैं प्रतीति आप भाइए।
कारणतैं कारिजकी सिद्धि है अनादि ही की,
आतमीक ज्ञानतैं अनंत सुख पाइए।। ३४।।

अर्थ :– जिसप्रकार इस जीव को शुभोपयोग से पुण्यबन्ध होता है, पात्रों को दान देने से भोगभूमि में उत्पन्न होता है, सत्संगति से स्व हित रूप साधना होती है, स्थिर चित्त होने से ज्ञान का विकास होता है। भेदज्ञानपूर्वक अपने आपको आप की रुचि होती है; क्योंकि कारण से कार्य की सिद्धि होती है – ऐसा अनादि का सिद्धान्त है, उसीप्रकार एक मात्र आत्मा के ज्ञान से ही अनन्त सुख की प्राप्ति हो सकती है।

जामैं परवेदना उछेदना भई है महा,
वेदै निज आतमपद परम प्रकासतौ।
अनाकुल आतमीक अतुल अतेन्द्री सुख,
अमल अनूप करै सुख कौ विलासतौ।
महिमा अपार जाकी कहाँलौं बखानौ कोय,
जाही के प्रभाव देव चिदानंद भासतौ।
निहचै निहारिकै सरूपमैं संभारि देख्यौ,
स्वसंवेदज्ञान है हमारौ रूप सासतौ।। ३५।।

अर्थ :– जब निज आत्मपद अनुभव में आता है, तब परद्रव्य के संयोग से जो संयोगी भाव होते थे, वे नष्ट हो जाते हैं और परम उत्कृष्ट स्वरूप प्रकाशित होता है। निज आत्मपद आकुलतारहित अतुल अतीन्द्रिय पवित्र अनुपम सुख को विलसित करता है। जिसकी महिमा अपार है उसका वर्णन कहाँ तक करें अर्थात् जिसकी महिमा अनंत है। जिसके प्रभाव से आत्मदेव आनन्द स्वरूप अनुभव में आता है। निश्चयदृष्टि से देखा जाये तो एक मात्र निज स्वसंवेदन रूप ज्ञान ही हमारा शाश्वत स्वरूप है।

परम अनंत गुण चेतना कौ पुंज महा,
वेदतु है जाकै बल ऐसौ गुणवान है।
सासतौ अखंड एक द्रव्य उपादन सो तौ,
ताहीकरि सधै यामैं और न विनान है।
जाहीके सुभावतैं अनंत सुख पाइयतु,
जाहीकरि जान्यौ जाय देव भगवान है।
महिमा अनंत जाकी ज्ञान ही में भासतु है,
स्वसंवेदज्ञान सोही पद निरवान है।। 36।।

अर्थ :– ज्ञानवान पुरुष अपने आत्मा को अनंत ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का चैतन्य पिण्ड अनुभव करता है। उसके बल से आत्मा में एक शाश्वत अखंड उपादान से ही कार्यसिद्धि होती है, उसमें पर का रंचमात्र भी प्रवेश नहीं है। जिस स्वभाव का अनुभव करने पर अनंत सुख की प्राप्ति होती है, निज आत्मदेव पहिचानने में (ज्ञान में) आता है, जिसकी अनंत महिमा ज्ञान में ही भासित होती है – ऐसा स्वसंवेदनरूप ज्ञान ही यथार्थ में मोक्षपद है।

राग दोष मोह के विभाव धारि आयौ तोऊ,
निहचै निहारि नाहिं पर पद गह्यौ है।
एक ज्ञानज्योति कौ उद्योत यों अखंड लीएं,
कहा भयौ जो तो जगजालमाहिं बह्यौ है।

महा अविकारी सुद्ध पद याकौ ऐसौ जैसो,
जिनदेव निजज्ञान माहिं लह लह्यौ है।
ज्ञायक प्रभामैं द्वैतभाव कोऊ भासै नाहिं,
स्वसंवेदरूप यौ हमारो बनि रह्यौ है।।37।।

अर्थ :– यह जीव अनादिकाल से ही मोह-रागद्वेषरूपी विभावभावों को धारण करता आया है, तो भी निश्चय से देखा जाये तो पर रूप नहीं हुआ है, क्योंकि राग-द्वेष परपदार्थ पर दृष्टि देने पर ही होते हैं। फिर यह एक मात्र अखंड ज्ञानज्योति को ही प्रकाशित करता जीव अनादि से संसाररूपी जाल में रहे तो क्या हुआ ? इसका अत्यन्त अविकारी शुद्धपद ऐसा है, जैसा भगवान ने भी ज्ञान में परिपूर्ण देखा है। ज्ञानज्योति के प्रकाश में तो द्वैतभाव (भेदरूप) भासित होता ही नहीं है, ऐसा स्वसंवेदनरूप स्वभाव हमारा सदाकाल से बना हुआ है।

ज्ञान उपयोग ज्ञेयमाहिं दे अनादि ही को,
करि अरुझार आप एक भूलि बह्यौ है।
अमल प्रकाशवत मूरतिस्यौं बंधि रह्यौ,
महा निरदोष तातैं पर ही में फह्यौ है।
ऐसो ह्वै रह्यौ है तौऊ अचल अखंडरूप,
चिदरूप पद मेरो देव जिन कह्यौ है।
चेतना निधानमैं न आन परवेस कोऊ,
स्वसंवेदरूप यौ हमारौ बनि रह्यौ है।।38।।

अर्थ :– अनादिकाल से ही इस जीव ने अपने ज्ञानोपयोग को ज्ञेयरूप मानकर आप अपने आपको भूला हुआ है। निर्मल प्रकाशवान अत्यन्त निर्दोष ऐसा यह जीव मूर्तिक से बँधा हुआ होने से पर पदार्थों में ही फँसा हुआ है। अनादि से ऐसा रहता हुआ भी मेरा शाश्वत स्वरूप जैसा सर्वज्ञदेव ने कहा है, वैसा परम पवित्र अखंडरूप ही रहता है, ऐसी चेतना का खजाना मेरा आत्मा प्रत्यक्ष स्वसंवेदन रूप है, उसमें अन्य पदार्थ का भी प्रवेश नहीं होता है।

जीव नटै नाट थाट गुण हैं अनंत भेष,
पातरि सकति रसरीति विसतारा की।
चेतना सरूप जाकौ दरसन देखतु है,
सत्ता मिरदंग ताल परमेय प्यारा की।
हाव भाव आदिक कटाक्षन कौ खेयवौ जो,
सुर कौ जमाव सब समकितधारा की।
आनन्द की रीति महा आप करै आपही कौ,
महिमा अखंड ऐसी आतम अपार की।। ३६।।

अर्थ :– जैसे नट अनेक प्रकार के भेष धारण करता हुआ मृदंग की ताल के अनुसार नृत्य करता है और भेष की योग्यता के अनुसार रस का विस्तार करता है, जैसे हाव भाव कटाक्ष आदि करता हुआ भी नट रूप ही अनुभव करता है। उसीप्रकार यह जीव भी कर्मफल चेतना के कारण अपने को नाना ज्ञेयोंरूप विस्तारवाला होने पर भी समकितरूपी सुस्वर की धारा के कारण आप अपने आप को ज्ञान आनंदरूप ही अनुभव करता है। ऐसी इस आत्मा की अखंड अपार महिमा है।

जैसे नर कोऊ भेष पशु के अनेक धरै,
पशु नहीं होइ रहै जथावत नर है।
तैसे जीव चार गति स्वांग धरै चिर ही कौ,
तजै नाहिं एक निज चेतना कौ भर है।
ऐसी परतीति कीए पाइए परमपद,
होय चिदानंद सिवरमणी कौ वर है।
सासतो सुथिर जहाँ सुख कौ विलास करै,
जामैं प्रतिभासैं जेते भाव चराचर हैं।। ४०।।

अर्थ :– जिसप्रकार कोई पुरुष अनेक प्रकार के पशु के भेष-स्वांग धारण करता हुआ भी पशु नहीं होता है, मनुष्य ही रहता है। उसीप्रकार यह जीव भी चारों गतियों में अनादि से शरीर धारण करता हुआ अपने चैतन्य गुण से भरा हुआ निजरूप ही रहता है।

इसप्रकार की श्रद्धा करने से ही परम उत्कृष्ट पद को प्राप्त होता हुआ सादि अनंत काल के लिये मोक्षलक्ष्मी को वरण करता है और वहाँ ही स्थाई रूप से रहता हुआ सुख में मग्न समस्त चेतन-अचेतन ज्ञेय पदार्थों को जानता रहता है।

(दोहा)

निज महिमा में रत भए, भेदज्ञान उर धारि।
ते अनुभौ लहि आपकौ, करमकलंक निवारि।। ४१।।

अर्थ :- जो जीव अपनी महिमा जानकर उसी में लीन होते हैं और भेद विज्ञान को हृदय में धारण करते हैं वे ही जीव अपने को अनुभव करते हुये कर्म कलंक (मल) को दूर करते हैं।

(मनहर)

मूरति पदारथ जे भासत मयूर जामैं,
विकारता उपल मयूर मकरंद की।
भावन की ओर देखे भावना मयूर होई,
रहै जथावत दसा नहीं परफंद की।
तैसैं परफंद ही में पर ही सौ भासतु है,
पर ही विकार रीति नहीं सुखकंद की।
एक अविकार शुद्ध चेतन की ओर देखै,
भासत अनूप दुति देव चिदानंद की।। ४२।।

अर्थ :- पण्डित दीपचन्दजी ज्ञानी जीव की दशा बताते हुये कहते हैं कि जिसप्रकार दर्पण में रूपी पदार्थ झलकते हैं और मोर भी झलकता है, फिर भी पत्थर के मयूर को विकार नहीं होता, क्योंकि लोकव्यवहार में ऐसा मानते हैं कि जो जिसको देखता है उसके वैसे ही भाव होते हैं। मोर मोरनी को देखता है तो उसको विकार होता है; परन्तु पत्थर की मोरनी को देखने पर विकार नहीं होता, उसकी दशा पूर्ववत् बनी रहती है। उसीप्रकार आत्मा के अनादि से शरीर आदि पर पदार्थों का संयोग होने से संयोगी भाव

(विकार) होने पर भी उसकी ज्ञानआनन्द दशा वैसी ही बनी रहती है; क्योंकि ज्ञानी जीव एक अविकारी शुद्ध चेतना रूप ही अपने को देखता है, उसे ज्ञान ज्योति में अपना विलक्षण रूप ही भासित होता है।

(मत्तगयन्द सवैया)

मेरो सरूप अनूप विराजत,
मोहीमैं और न भासत आना।
ज्ञान कलानिधि चेतन मूरति,
एक अखंड महा सुखथाना।
पूरण आप प्रताप लिये,
जहाँ जोग नहीं पर के सब नाना।
आप लखै अनुभाव भयौ अति,
देव निरंजन कौ उर ज्ञाना ।। ४३।।

अर्थ :– जब यह जीव अपने स्वरूप को अनुभव करता है, तब उसे अपना स्वरूप अनुपम ही भासित होता है, उसमें पर पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हुये भी भासित नहीं होते। वह अनेक प्रकार की ज्ञान की कलाओं का खजाना है, चैतन्य रूप अखंड सुख का घर (स्थान) है। साथ ही अपने में पूर्णता लिये हुये महाबलवान (अनन्त बल) है, उसमें पर के अनेकरूप संयोग नहीं हैं। ऐसा अपने आपको देखने पर (अपने ज्ञान में) परमात्मस्वरूप ही दिखाई देता है।

ज्ञानकला जागी जब परबुद्धि त्यागी तब,
आतमीक भावनमैं भयो अनुरागी है।
परपरपंचनमैं रंचहू न रति मानै,
जानैं पर न्यारौ जाकै साँची मति जागी है।
महा भवभार के विकार ते उठाइ दीए,
भेदज्ञान भावन सौं भयो परत्यागी है।
उपादेय जानि रति मानी है सरूप माहिं,
चिदानंददेवमैं समाधि लय लागी है।। ४४।।

अर्थ :– जब इस जीव को भेदविज्ञान होता है, तब समस्त पर बुद्धि को अपने ज्ञान में छोड़ देता है और अपने आत्मिक परिणामों में ही लीन रहता है। समस्त परप्रपंचों में रंचमात्र भी आसक्ति नहीं रखता है, अपने को पर से भिन्न रूप जानता हुआ सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करता है। भेदज्ञानरूप भावों से पर का त्याग कर संसार के भाररूप विकारों को नष्ट करता है तथा अपने स्वरूप को उपादेय जानकर अपने स्वरूप में ही आसक्ति रखता है, अपने चिदानन्द ही में लीन रहने की लगन लगी रहती है।

दरसन ज्ञान सुद्ध चारित कौ एक पद,
मैरो है सरूप चिन्ह चेतना अनंत है।
अचल अखंड ज्ञानजोति है उद्योत जामैं,
परम विशुद्ध सब भाव में महंत है।
आनंद कौ धाम अभिराम जाको आठों जाम,
अनुभयें मोक्ष कहै देव भगवन्त है।
सिवपद पाइवे कौं और भांति सिद्धि नाहिं,
याते अनुभयौ निज मोक्षतियाकंत है।।४५।।

अर्थ :– जब ज्ञानी जीव अपने पद को एक शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप अनंत चेतना लक्षण अचल अखंड ज्ञान ज्योति प्रकाशमान उत्कृष्ट भावरूप महान आनन्द का धाम – ऐसा आठों प्रहर अनुभव करता है। इसप्रकार का अनुभव करनेवाला ही मोक्ष प्राप्त करता है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं। शिवपद प्राप्त करने का और कोई प्रकार नहीं है, इसका अनुभव करनेवाला ही मोक्षलक्ष्मी का पति होता है अर्थात् स्वामी होता है।

अलख अरूपी अज आतम अमित तेज,
एक अविकार सार पद त्रिभुवनमैं।
चिर ले सुभाव जाकौ समैं हू समाऱ्यौ नाहिं,
परपद आपौ मानि भम्यौं भववन में।

करम कलोलनि में डोल्यौ है निशंक महा,
परपद प्रति रागी भयौ तनन्तन में।
ऐसी चिरकाल की हू विपत्ति विलाय जाय,
नैक हूं निहारि देखौ आप निज धन में।। ४६।।

अर्थ :– यह आत्मा तीनों लोकों में साररूप अमूर्तिक, अरूपी अजन्मा तथा अमित तेजवान एक अविकार स्वरूप है। जिसने ऐसे अनादि के स्वभाव की एक क्षण भी सँभाल नहीं की और पर पद में अपना स्वरूप समझा है वे इस संसार रूपी वन में भ्रमण करते हैं तथा कर्म के उदय के अनुसार निःशंक परिणाम करते हुए पर पदार्थों में रुचि करता हुआ रागी होकर शरीरों में प्रीति करता है, परन्तु जिस क्षण यह जीव अपने स्वरूप में लीन होता है, उसी समय अनादि की विपत्तियाँ नाश हो जाती हैं, ऐसी आत्मा की अपूर्व महिमा है।

निहचै निहारत ही आतमा अनादि सिद्ध,
आप निज भूलि ही तैं भयो व्यवहारी है।
ज्ञायक सकति जथाविधि सो तो गोप्य दई,
प्रगट अज्ञान भाव दसा विसतारी है।
अपनौ न रूप जानैं और ही सौं और मानै,
ठानैं भव खेद निज रीति न संभारि है।
ऐसै तो अनादि कहौ कहा साध्यसिद्धि अब,
नैक हूँ निहारौ निधि चेतना तुम्हारी है।।४७।।

अर्थ :– निश्चय से देखने पर तो आत्मा अनादि-अनंत सिद्ध-स्वरूप ही है। परन्तु अपने को भूलने के कारण स्वयं व्यवहारी (भेद-रूप) दिखता है। अपना ज्ञायक शक्तिरूप स्वभाव जैसा है, उसको भूलकर प्रगट में अपनी अज्ञान दशा में रागादि विकार किया करता है, अपना स्वरूप नहीं जानता और संयोगों के कारण संयोगी भावों को ही अपना रूप मानता है और दुखी होता हुआ निज परिणति को नहीं देखता है। इसप्रकार अनादि से मानता आ रहा है, जिससे आज

तक कुछ भी हित न हो सका। अब एक क्षण के लिये अपनी चैतन्य निधि को सँभालो, जो तुम्हारी ही है।

एक वनमाहिं जैसे रहतु पिशाच दोइ,
एक नर ताकौं तहाँ अति दुख द्यावै है।
एक वृद्ध विकराल भाव धारि त्रास करें,
एक महा सुन्दर सुभाव कौ लखावै है।
देखि विकराल ताकौ मनमाहिं भय मानै,
सुन्दर कौ देखि ताकौं पीछें दौरि धावे है।
ऐसौ खेदखिन्न देखि काहू जन मंत्र दीयौ,
ताकौ उर आनि वो निसंक सुख पावै हैं।।४८।।

अर्थ :– जैसे एक जंगल में दो पिशाच रहते हैं और वे वहाँ एक मनुष्य को बहुत दुःख देते हैं। उनमें से एक दुष्ट अनेक प्रकार के विकराल रूप धारण करके बहुत दुख देता है तथा दूसरा सुन्दर शान्त चित्त दिखाई देता है। वह पुरुष उस दुष्ट विकराल पिशाच को देखकर मन में भयभीत होता है तथा उस सुन्दर पिशाच को देखकर उसके पीछे दौड़ता है। ऐसी उस पुरुष की दुःखी दशा को देखकर किसी भले पुरुष ने मंत्र दिया, तब वह उसे हृदय में श्रद्धा धारण करता हुआ निःशंक सुख को प्राप्त होता है।

(इस छन्द में दृष्टान्त दिया है, अगले छन्द में सिद्धान्त बतायेंगे)

तैसे याही भव जामैं संपति विपति दोऊ,
महा सुखदुखरूप जनकौ करतु है ।
गुरुदेव दीयौ ज्ञानमंत्र जब जब ध्यावै,
तब न सतावै दोऊ दुख को हरतु है ।
करिकै विचार उर आनिए अनूप भाव,
चिदानंद दरसाव भाव कौ धरतु है ।
सुधापान कीएँ और स्वाद कौं न चाखै कोऊ,
कीएँ सुध रीति सुध कारिज सरतु है।।४९।।

अर्थ :– उसीप्रकार इस संसार में संपत्ति व विपत्ति दोनों इस मनुष्य को सुख-दुःखरूप करती है, परन्तु जब इसे ज्ञानी गुरु सम्यग्ज्ञान रूपी मंत्र देते हैं और यह उसका ध्यान करता है तब इसे कोई दुखी नहीं कर सकता है और दोनों प्रकार के दुख को हरता है। अपने हृदय में विचार करता हुआ अद्भुत भावों को लाता हुआ अपने ज्ञान-दर्शनादि चैतन्य भावों को ही धारण करता है। जिसप्रकार कोई पुरुष अमृत का पान करता हुआ अन्य वस्तुओं के स्वाद को नहीं चखता है, उसीप्रकार शुद्ध रीति से किये गये शुद्ध कार्यों से ही सुखी होता है अर्थात् इसका कार्य बनता है।

देव जिनराजसे अनादि के बताय आये,
तैसौ उपदेश हम कहाँलौं बतावेंगे।
गहे पररूप ते सरूप की चितौनी चुके,
अनुभौ सौं केतेई भव में भमावैंगे।
एतो हू कथन कीएं लागै जो न उरमाहिं,
तिन से कठोर नर और न कहावेंगे।
कहे दीपचन्द पद आदि देकैं कौऊ सुनो,
तत्त्व के गहैया भव्य भवपार पावेंगे।।५०।।

अर्थ :– जैसा उपदेश जिनेन्द्र भगवान अनादिकाल से बताते आये हैं, वैसा तो हम कहाँ तक वर्णन कर सकेंगे; क्योंकि यह जीव अनादिकाल से पररूप ही अपना स्वरूप मानकर स्व स्वरूप चिन्तन करना ही भूल गया है, जिसके कारण अनेक भवों में कितना ही भ्रमण करेगा। उसी जीव को इतना बताने पर भी हृदय में नहीं लगती है, उस जैसे कठोर वज्रहृदयी और नहीं हो सकता। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि हे जीवों ! ध्यान से सुनो कि तत्त्व को ग्रहण करनेवाले भव्य ही संसारसमुद्र से पार होवेंगे।

एक गुण सूच्छम कौ एतो विसतार भयौ,
सबै गुण सूच्छम सुभाव जिहि कीने हैं।

एक सत सूच्छम के भेद हैं अनन्त जामैं,
अगुरुलघुता हू कौ सूच्छमता दीने हैं।
अगुरुलघुताई सो सारे गुणमाहिं आई,
अनन्तानन्त भेद सूच्छम यौं लीने हैं।
सबैं गुणमाहिं ऐसै भेद सधि आवत है,
तेही जन पावैं दीप चेतनता चीने हैं।।५१।।

अर्थ :– आत्मा के गुणों की महिमा बताते हुये दीपचन्दजी कहते हैं कि इस आत्मा के एक सूक्ष्मत्व गुण का विस्तार ही इतना है कि जिसने सारे गुण ही सूक्ष्मत्व स्वभावरूप किये हैं। एक सत् गुण के ही अनंत सूक्ष्म भेद हैं, जिसमें अगुरुलघु नामक गुण के कारण अनंत भेद (अविभागी प्रतिच्छेद) होते हैं, अगुरुलघु नामक गुण सभी गुणों में व्याप्त है, अतः इसीप्रकार प्रत्येक गुण में भी अनंतानंत भेद होते हैं। जो जीव ऐसे अनंत गुणों को साधकर जीव की पहिचान करता है वही निज आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है।

जगवासी अंध यौ तो बंध्यौ है करम सेती,
फंद्यौ परभाव सौं अनादि कौ कलंक है।
नर देव तिरजंच नारकी भयो है जहाँ,
अहंबुद्धि ही में डोल्यौ अति ही निसंक है।
करम की रीति विपरीत ही सौं प्रीति जातैं,
राग दोष धारि धारि भयौ बहु बंक है।
करम इलाज में न काज कोऊ सिद्ध भयौ,
अब तू पिछान जीव चेतना को अंक है।।५२।।

अर्थ :– कवि कहते हैं कि यह संसारी जीव अज्ञान अंधकार के कारण कर्म से अनादि काल से बँधा हुआ परभावों में फँसा है, यह इसे कलंक है। कर्म के उदय में मनुष्य, देव, नारकी तिर्यंच हुआ प्राप्त पर्याय में अहंबुद्धि होने से संसार में निःशंक होकर भ्रमण करता है। कर्म की रीति जो कि स्वभाव से विपरीत है, उसी से प्रीति करता हुआ राग-द्वेष कर-करके बहुत वक्र हुआ है, परन्तु जबतक जीव

अपनी ज्ञान-दर्शन चेतना को नहीं पहचानता है, तबतक कर्म को दोषी जानकर उन्हें दूर करने का उपाय करे, उससे कुछ सिद्ध नहीं होता।

स्वपरविवेक धारि आतम स्वरूप पावै,
चिदानंद मूरति में जेई लीन भये हैं।
पर सेती न्यारौ पद अचल अखंडरूप,
परम अनूप आप गुण तेई लए हैं।
तिहुंलोकसार एक सदा अविकार महा,
ताको भयौ लाभ तातैं दोष दूरि गऐ हैं।
अतुल अबाधित अनंत गुणधाम ऐसौ,
अभिराम अखैपद पाय थिर थऐ हैं।।५३।।

अर्थ :– जो जीव निज पर का विवेक धारण करके आत्मस्वरूप को प्राप्त होते हैं और सदा ज्ञान-आनंद स्वरूप में ही मग्न रहते हैं। वे ही पर से भिन्न परम अद्‌भुत, अचल, अखंडरूप निज गुणों को जो प्राप्त होते हैं उन्हें ही तीन लोक में सारभूत एक वीतराग-विज्ञान का लाभ होने से दोष दूर हो जाते हैं और अनंत ज्ञान, दर्शन, बल, अव्याबाधत्व आदि अविनाशी अजर-अमर, अक्षयपद (सिद्ध अवस्था) को प्राप्तकर सादि अनंत काल के लिये स्थिर हो जाते हैं।

राग दोष मोह जाकौ मूल है असुभ सुभ,
ऐसे जोग भाव में अनादि लगि रह्यौ है ।
भेदज्ञान भावसेती जोग कौं निरोधि अति,
आतम लखाव ही में निजसुख लह्यो है ।
परद्रव्य इच्छा परत्याग भयौ जाही समै,
आप है अनंत गुणमई जाहि गह्यौ है।
कारण सुकारिज कौ सिद्धि करि याही भाँति,
सासतौ सदैव रहै देव जिन कह्यौ है।।५४।।

अर्थ :– श्री जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है कि राग-द्वेष-मोह हैं मूल जिनके ऐसे शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप) परिणामों में जीव अनादि

काल से लग रहा है, किन्तु भेदविज्ञान के प्रभाव से योगों का निरोध होने पर निज आत्मा को देखने पर ही निज सुख (सच्चे सुख) की प्राप्ति होती है। जिससमय परद्रव्य और उनसे सम्बन्धित इच्छा का त्याग होता है, उसीसमय आप अपने अनंतगुणरूप स्वभाव को ग्रहण करता है। इसप्रकार भेदविज्ञानरूप कारण से कार्य की सिद्धि है।

आपके लखैया परभाव के नखैया रस,
अनुभौ चखैया चिदानन्द को चहतु हैं।
परम अनूप चिदरूप कौ सरूप देखि,
पेखै परमातमा को निज में महतु हैं।
ज्ञान उर धारि मिथ्या मोह को निवारि सब,
डारि दुख दोष भवपार जे लहतु हैं।
लोक के सिखरि सुध सासतौ सुथान लहि,
लोकालोक लखिकै सरूप में रहतु हैं।।५५।।

अर्थ :– जो जीव पर भावों का (विकार) नाश करके अपने आप को देखते हैं, अनुभव रस का रसास्वादन करते हैं, चिदानन्द चैतन्य को ही चाहते हैं; वे परम अनुपम चित्स्वरूप को देखकर निज स्वरूप को महत्त्व देते हुये परमात्म पद को ही देखते रहते हैं। अपने हृदय में ज्ञान को धारण करते हुये मिथ्यात्व मोहान्धकार का निवारण कर सब दुख व दोषों को छोड़कर संसार-समुद्र से पार होते हैं और लोक के अग्रभाग में शुद्ध शाश्वत स्वरूप में विराजमान होकर लोकालोक को जानते हुये अपने स्वरूप में मग्न रहते हैं।

परपद त्याग आपपदमाहिं रति मानै,
जगी ज्ञानज्योति भाव स्वसंवेदवेदी है।
अनुभौ सरूप धारि परवाहरूप जाकै,
चाखत अखंड रस भ्रम कौ उछेदी है।
त्रिकालसंबंधि जब द्रव्य गुण परजाय,
आप प्रतिभासै चिदानन्दपदभेदी है।

महिमा अनंत जाकी देव भगवन्त कहैं,
सदा रहै काहूपै न जाय सो न खेदी है।।५६।।

अर्थ :– जो जीव परद्रव्य और उससे सम्बन्धी भावों का त्यागकर अपने स्वरूप को ही मानता है और ज्ञानज्योति जगने पर स्वसवंदेनरूप भाव का वेदन करता है, जिसके एक धाराप्रवाहरूप अनुभव होता है, वही अखंड रस का रसास्वादी होकर भ्रम भावों को छेदता है। जब उसे ही अभेद चिदानंद की प्राप्ति होती है तब त्रिकाल संबंधी द्रव्य-गुण-पर्याय स्वयमेव भासित होते हैं। उस आत्मस्वरूप के वेदन की जिनेन्द्र भगवान ने अनन्त महिमा बतायी है और वह स्वसंवेदन सदाकाल रहता है, किसी से उसका खंडन नहीं किया जा सकता है।

जगमैं अनादि ही की गुपत भई है महा,
लुपतसी दीसै तौऊ रहै अविनासी है।
ऐसी ज्ञानधारा जब आप ही कौ आप जानै,
मिटै भ्रमभाव पद पावै सुखरासी है।
अचल अनूप तिहुंलोकभूप दरसावै,
महिमा अनंत भगवंत देववासी है।
कहै दीपचन्द सोही जयवंत जगत में,
गुण को निधान निज ज्योति को प्रकासी है।।५७।।

अर्थ :– आत्मा में सदैव बहती रहनेवाली ज्ञानधारा प्रगट दिखाई नहीं देने पर भी छिपी हुई सदा काल रहती है। ऐसी ज्ञान-धारा से जब यह जीव आप को आपरूप जानता है, तब सारा भ्रम भाव मिटकर अनंत सुख को प्राप्त होता है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि अनंत गुणों के निधान ज्ञानज्योतिरूप प्रकाशमान सदा काल संसार में जयवंत अचल अनुपम तीनों लोकों में प्रगट स्वामी रूप ऐसे सिद्ध भगवन्तों की महिमा अपरम्पार है।

मेरे निज स्वारथ कौ मैं ही उर जानत हौं,
कहिवे कौ नाहिं ज्ञान गम्य रस जाको है।

स्वसंवेद भाव में लखाव है सरूप ही कौ,
अनाकुल अतेन्द्री अखंड सुख ताकौ है।
ताकी प्रभुता में प्रतिभासत अनंत तेज,
अगम अपार समैसार पद वाकौ है।
सुद्ध दिष्टी दीएं अवलोकन है आप ही कौ,
अविनासी देव देखि देखै पद काकौ है।।५८।।

अर्थ :– मेरा जिसमें हित है – ऐसे निज स्वभाव को ज्ञानी अपने हृदय में ही जानता है, जो ज्ञानगम्य है, वाणी द्वारा जिसका कथन नहीं किया जा सकता है, जिसे स्व संवेदन भाव में मात्र अपना स्वरूप ही दिखता है, उसे आकुलता रहित अतीन्द्रिय अखंड सुख प्राप्त होता है। उसके प्रभाव से जो अनन्त तेजरूप अगम्य अपार है – ऐसा आत्मतत्त्व सारभूत पद उसी का है। सम्यक् दृष्टि से देखने पर आप अपने आपको अनिवाशी देव स्वरूप ही देखता है, जो उसी का (पद) स्वरूप है।

आतम दरब जाकौ कारण सदैव महा,
ऐसौ निज चेतन में भाव अविकारी है।
ताही की धरणहारी जीवन सकति ऐसी,
तासौं जीव जीवैं तिहुँकाल गुणधारी है।
द्रव्य गुण परजाय एतौ जीव दसा सब,
इनही में वस्तु जीव जीवनता सारी है।
सबको अधार सार महिमा अपार जाकौ,
जीवन सकति दीप जीव सुखकारी है।।५९।।

अर्थ :– निज आत्मद्रव्य ही है कारण जिसका ऐसे निज आत्मा में सदैव शुद्ध परिणाम होते हैं। उसी को धारण करनेवाली जीवत्व शक्ति के कारण जीव तीनों काल अपने चैतन्य भावों से जीता है और अनंत गुणों को धारण किए हुये हैं। जीव द्रव्य में जितनी द्रव्य-गुण-पर्यायरूप दशायें हैं, इनमें जीवत्व शक्ति ही सार है, जो सबका आधार है; जिसकी महिमा अपरंपार है, ऐसी जीवत्व शक्ति ही जीव को सुखकारी है।

दरसन-गुण जामैं दरसि सकति महा,
ज्ञायक सकति ज्ञान माहीं सुखदानी है।
अतुल प्रताप लीएं प्रभुत्व सकति सोहें,
सकति अमूरति सो अरूपी बखानी है।
इत्यादि सकति जे है जीव की अनंत रूप,
तिन्हैं दिढ़ राखिवै कौ अति अधिकानी है।
बीरज सकति दीप भाएँ निज भावन में,
पावन परम जातैं होय सिवथानी है।। ६०।।

अर्थ :– पण्डित दीपचन्द जी आत्मा की शक्तियों का वर्णन करते हुये कहते हैं कि दर्शनगुण में दृशि शक्ति है तथा ज्ञानगुण में सुखदायी ज्ञायक शक्ति है। अमूर्तत्त्व अतुल प्रताप को धारण करनेवाली शक्ति के कारण आत्मा में प्रभुत्व शक्ति है, अमूर्तत्त्व शक्ति के कारण आत्मा अमूर्तिक है। इत्यादि अनंत शक्तियों को दृढ़ रखने के लिए अत्यन्त बलशाली वीर्यशक्ति है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि इन शक्तियों को अपने भावों में भानेवाला जीव परम पवित्र मोक्षपद प्राप्त कर सकता है।

तिहूँकाल विमल अमूरति अखंडित है,
आकरती जाकी परजाय कही व्यंजनी है।
अचल अबाधित अनूप सदा सासती है,
परदेश असंख्यात धरै है अभंजनी।
विकलप भाव कौ लखाव कोऊ दीसै नाहिं,
जाकी भवि जीवन कै रुचि भवभंजनी।
महा निरलेप निराकार है सरूप जाकौ,
दरसि सकति ऐसी परम निरंजनी।।६१।।

अर्थ :– आत्मा की दृशि शक्ति की महिमा बताते हुये कहते हैं कि आत्मा तीनों काल कर्ममल से रहित अमूर्तिक अखंडित होते हुये भी प्रदेशत्व गुण के कारण आकार रूप हैं जो कि उसकी व्यंजन पर्याय है। अचल, अबाधित, अनुपम शाश्वत असंख्यात प्रदेशी होते

हुये भी भंजन अर्थात् खंडरूप नहीं होता। जिसकी दृष्टि ऐसे आत्मस्वरूप की ओर होती है, उसे विकल्प के सद्भाव में भी कोई विकल्प नहीं दिखता। भव्यजीवों की ऐसी रुचि ही संसार का भंजन करनेवाली है। इसप्रकार आत्मा की दृशि शक्ति निरंजन निराकार निर्लेप स्वरूप है।

सकति अनंत जामैं चेतना प्रधान रूप,
ताहू में प्रधान महा ज्ञायक सकति है ।
परम अखंड ब्रह्मंड की लखैया सो है,
सूक्षम सुभाव यौं सहज ही की गति है ।
सुपर प्रकासनी सुभासनी सरूप की है,
सुख की विलासनी अपार रूप अति है ।
उपयोग साकार बन्यो है सरूप जाकौ,
ज्ञान की सकति दीप जानै साँची मति है।।६२।।

अर्थ :– जीव की ज्ञान शक्ति का वर्णन करते हुये कहते हैं कि आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, उनमें चेतना प्रधान है और उसमें भी ज्ञातृत्व (ज्ञायक) शक्ति प्रमुख है। ज्ञायक शक्ति परम अखंड ब्रह्म स्वभाव को देखती है – ऐसे सूक्ष्म स्वभाव की भी सहज दशा है। स्वपर प्रकाशक, स्वरूप का वेदन करनेवाली, सुख में मग्न रूप, अपार, साकार-उपयोग है स्वरूप जिसका – ऐसी ज्ञायक शक्ति को सम्यग्ज्ञानी ही जानता है।

सुसंवेद भाव के लखाव करि लखी जाहै,
सब ही का फल पाहै कहाँलौं कहीजिए।
अचल अनूप माया सास्वती अबाधित है,
अतिन्द्री अनाकुल में सुरस लहीजिए ।
अविनास-रूप है सरूप जाकौ सदाकाल,
आनन्द अखंड महा सुधापान कीजिए ।
ऐसी सुखसकति अनंत भगवंत कही,
ताही मैं सुभाव लखि दीप चिर जीजिए।।६३।।

अर्थ :– जीव की सुख शक्ति का वर्णन करते हुये पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि जब यह जीव स्वसंवेदनरूप अनुभव करता है, उस समय अनंत शक्तियों को देखने के कारण जो आनंद प्राप्त होता है, उसके फल का वर्णन कहाँ तक कहें, उसी के फल में अचल, अनुपम, शाश्वत, अबाधित अतीन्द्रिय, अनाकुल, सरस सुख को प्राप्त करता है। जिसका स्वरूप अविनाशी है – ऐसा सदा काल आनंदरूप व अखंड अमृत का पान करता है। ऐसी सुखशक्ति का स्वरूप अनंत भगवंतों ने कहा है, जिसको देखते हुये यह जीव अनंत काल तक जीता है।

सत्ता के अधार ए विराजत है सबै गुण,
सत्ता माहिं चेतना है चेतना में सत्ता है।
दरसन ज्ञान दोऊ एक भेद चेतना के,
चेतना सरूप मैं अरूप गुण पत्ता है।
चेतना अनंत गुण रूप तैं अनंतधा है,
द्रव्य परजाय सोऊ चेतन का नत्ता है।
जड़ के अभाव मैं सुभाव सुध चेतना कौं,
यातैं चिद सकति मैं ज्ञानवान रत्ता है।।६४।।

अर्थ :– आत्मा की चिति शक्ति का वर्णन करते हुये कहते हैं कि चैतन्य सत्ता के आधार पर आत्मा में समस्त गुण रहते हैं, उस सत्ता में ही चेतना है और चेतना में भी सत्ता है। चेतना के ज्ञान और दर्शन दो भेद हैं तथा चेतनत्व गुण अरूपी है। अनंत गुण चेतनारूप होने से अनेक प्रकार की है। द्रव्य-पर्याय भी चेतना के ही रूप हैं तथा चेतनत्व में जड़ का अभाव है, अतः उसका स्वभाव शुद्ध है – ऐसी चिति शक्ति में ज्ञानी जीव निरन्तर मग्न रहता है।

सूच्छम सुभाव कौ प्रभाव सदा ऐसौ जिहिं,
सबै गुण सूच्छम सुभाव करि लीने हैं।
बीरज सुभाव कौ प्रभाव भयो ऐसौ तिहिं,
अपने अनंत बल सब ही को दीने हैं।

परम प्रताप सब गुण मैं अनंत ऐसै,
जानै अनुभवी जे अखंड रस भीने हैं।
अचल अनूप दीप सकति प्रभुत्व ऐसी,
उर मैं लखावैं ते सुभाव सुध कीने हैं।।६५।।

अर्थ :– पण्डितजी आत्मा की प्रभुत्व शक्ति का वर्णन करते हुये कहते हैं कि आत्मा के सूक्ष्म स्वभाव का प्रभाव सदा काल ऐसा है कि जिसने सभी गुणों को सूक्ष्म किया है। वीर्य स्वभाव का प्रभाव ऐसा है कि जिसने सभी गुणों को अपना अनन्त बल प्रदान किया है। ऐसे आत्मा में अनन्त गुणों का जो परम प्रताप है, ज्ञानी जीव (अनुभवी) उन सब को जानता हुआ अखंड रस का रसास्वादन करता है। इस आत्मा की प्रभुत्व शक्ति ऐसी विलक्षण है, जिसे हृदय में देखने से शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है।

अगुरुलघुत्व की विभूति है महत महा,
सब गुण व्यापि कै सुभाव एक रूप है।
ऐसे गुण गुणनि मैं विभूति बखानियत,
जानियतु एक रूप अचल अनूप है।
निज निज लक्षण की सकति है न्यारी न्यारी,
जिहीं विसतारी जाये भाव चिद् रूप है।
कहै दीपचन्द सुख कहूँ मैं सकति ऐसी,
विभूति लखैं ते जीव जगत को भूप है।।६६।।

अर्थ :– आत्मा की विभुत्व शक्ति का वर्णन करते हुये पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि अगुरुलघुत्व की ऐसी महान विभूति है, जो सब गुणों में व्यापकर भी स्वभाव एकरूप ही है। प्रत्येक गुणों की विभूति एकरूप, अचल व अनुपम है। प्रत्येक गुण की अपने-अपने लक्षण के अनुसार भिन्न-भिन्न शक्ति है, जिनके विस्तार में जाने पर एक चिद्रूप ही व्याप्त है। जीव जब इस शक्ति को समझकर अपनी विभूति देखता है, तब ऐसा लगता है, मानो तीन लोक का अधिपति मैं ही हूँ।

सकल पदारथ की अवलोकनि सामान्य,
करै है सहज सुधा धार की चरसनी।
जामैं भेदभाव को लखाव कोऊ दीसै नाहिं,
देखै चिद् ज्योति सिव पद की परसनी।
सकति अनंती जेती जाही में दिखाई देत,
महिमा अनंत महा भासत सुरसनी।
कहै दीपचन्द्र सुखकंद में प्रधान रूप,
सकति बनी है ऐसी सरब दरसनी।।६७।।

अर्थ :– आत्मा की सर्वदर्शी शक्ति का वर्णन करते हुये पण्डितजी कहते हैं कि इस शक्ति के कारण आत्मा समस्त पदार्थों को सामान्य रूप से देखता है तथा उसी के कारण सहज अमृत पान करता रहता है, जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव दिखाई नहीं देता है और वह ऐसे चैतन्य ज्योति को देखता है, जो मोक्षपद को स्पर्श करनेवाली है। जब जीव इस शक्ति के द्वारा स्वयं में स्वयं की अनंत शक्तियों को देखता है तब ही इसे अनंत महिमा सरस भासित होती है। ऐसी सुख से परिपूर्ण जो सबमें मुख्य शक्ति है, वह सर्वदर्शी शक्ति है।

सकल पदारथ कौ सकल विशेष भाव,
तिनकौ लखाव करि ज्ञानजोति जगी है।
आतमीक लछन की सकति अनंत जेती,
जुगपद जानिवे को महा अति वगी है।
सहज सुरस सुसंवेद ही मैं आनंद की,
सुधाधार होई सही जाकै फरस पगी है।
परम प्रमाण जाकौ केवल अखंड ज्ञान,
महिमा अनंत दीप सकति सरवगी है।।६८।।

अर्थ :– पण्डित दीपचन्दजी आत्मा की सर्वज्ञ शक्ति की महिमा का वर्णन करते हुये कहते हैं कि आत्मा में सर्वज्ञ शक्ति के कारण तीनों लोकों के समस्त पदार्थों की सभी अवस्थायें तथा उनके भावों को देखने वाली ज्ञानज्योति प्रकाशित रहती है। आत्मा के इस लक्षण की

ऐसी अनन्त शक्ति है, जो सभी को युगपत जानने में समर्थ है। सहज सरस स्वसंवेदन में आनन्द की अमृतधारा बहती है, वह आनंद को स्पर्श करती हुई प्रगट होती है। वह अखंड ज्ञान जो केवलज्ञान रूप है, उसकी महिमा सर्वज्ञ शक्ति के कारण से ही है।

आतम अरूपी परदेस कौ प्रकास धरे,
भयौ ज्ञेयाकार उपयोग समलीन है।
लक्षण है जाको ऐसौ विमल सुभाव ताकौ,
वस्तु सुद्धताई सब वाही के आधीन हैं।
जथारथ भाव को लखाव लिए सदाकाल,
द्रव्य गुण परजाय यह भेद तीन है।
कहै दीपचन्द ऐसी स्वच्छ है सकति महा,
सो ही जिय जानै जाकै सुख की कमी न है।।69।।

अर्थ :– आत्मा की स्वच्छ शक्ति का वर्णन करते हुये पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि आत्मा अरूपी प्रदेशरूप है। ज्ञेयाकाररूप होते हुये भी उपयोग उपयोग में लीन है अर्थात् ज्ञानोपयोग ज्ञेयरूप नहीं होता; क्योंकि आत्मा की स्वच्छत्व शक्ति के लक्षण से निर्मल स्वभाव है और वस्तु की शुद्धता उसी के आधीन है। आत्मा सदाकाल अपने यथार्थ, भावस्वरूप दिखाई देता है। उसके द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे तीनों भेद भी शुद्ध हैं। ऐसी महान स्वच्छत्व शक्ति को जो जीव जानता है उसके सुख की कमी नहीं रहती है अर्थात् वह पूर्ण सुखी हो जाता है।

अनंत असंख्य संख्य भागवृद्धि होय जहाँ,
संख्य सु असंख्य सु अनंतगुणी वृद्धि है।
एऊ षट भेद वृद्धि निज परिणाम करै,
लीन होइ हानि सो ही करै व्यक्त सिद्धि है।
परणति आपकी रूप सौं न जाय कहूँ,
चिदानंद देव जाकै यह महाऋद्धि है।
सकति अगुरुलघु महिमा अपार जाकी,
कहै दीपचन्द लखैं सब ही समृद्धि है।।७०।।

अर्थ :– पण्डित दीपचन्दजी आत्मा की अगुरुलघुत्व शक्ति का वर्णन करते हुये कहते हैं कि इस शक्ति के कारण आत्मा में अनंत भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि तथा संख्यात गुणवृद्धि असंख्यात गुणवृद्धि, अनंत गुणवृद्धि - इसीप्रकार षड्गुणी हानि-वृद्धि होती रहती है, जो निज परिणाम स्वरूप एवं व्यक्त सिद्ध है। ऐसी हानि-वृद्धि होते हुये भी जीव की परिणति अपने स्वरूप को छोड़कर कहीं नहीं जाती है, यही आत्मा की महाऋद्धि है। ऐसी अगुरुलघुत्व शक्ति की महिमा अपार है, जो जीव इसे देखता है, उसके सर्वप्रकार की समृद्धि होती है।

दरब सुभाव करि ध्रौव्य रहैं सदाकाल,
व्यय उत्पाद सोही समै-समै करै है।
सासतौ खिणक उपादान जानैं पाइयतु,
सोही वस्तु मूल वस्तु आप ही मैं धरें है।
द्रव्य गुण परजै की जीवनी है याही यातैं,
चेतना सुरस कौ सुभाव रस भरै है।
कहें दीपचन्द यों जिनेन्द्र कौ बखान्यौ बैन,
परिणाम सकति कौ भव्य अनुसरै है।।७१।।

अर्थ :– आत्मद्रव्य की परिणाम शक्ति का वर्णन करते हुये कहते हैं कि इस आत्मद्रव्य में समय-समय पर उत्पाद-व्यय होते हुये भी द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा ध्रौव्यत्व सदाकाल रहता है और जो शाश्वत क्षणिक उपादन के रूप में कही गयी है, वही शक्ति मूल है जो सदा स्वतः आत्मा में रहती है। द्रव्य-गुण-पर्याय का यही जीवन है जो कि चेतना स्वभावरूप रस से भरा हुआ है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि ऐसी परिणाम शक्ति का स्वरूप जिनेन्द्रदेव ने कहा है और भव्य जोव उसी का अनुसरण करते हैं।

काहू परकार काहू काल काहू खेतर में,
है है न विनास अविनासी ही रहतु हैं।

परम प्रभाव जाको काहू पै न मैट्यौ जाय,
चेतना विलास के प्रकास को गहतु है ।
आन अवभाव जामैं आवत न कोऊ जहाँ,
अतुल अखंड एक सुरस महतु है ।
असंकुचित विकास सकति बनी है ऐसी,
कहैं दीप ज्ञाता लखि सुख को लहतु है।।७२।।

अर्थ :– इस आत्मा की असंकुचितविकास शक्ति का वर्णन करते हुये कहते हैं कि किसी भी प्रकार, किसी भी काल और किसी भी क्षेत्र में आत्मा किसी से नष्ट नहीं किया जा सकता है, सदाकाल अविनाशी ही रहता है। ज्ञान-दर्शनचेतनारूप आनंदमय ही रहता है अन्य विभाव जिसमें प्रवेश नहीं करते हैं – ऐसा अतुल्य अखंड एकरसमय महान आत्मा है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं आत्मा की ऐसी असंकुचित विकास शक्ति है, जो ज्ञाता इसे देखता है, वही शाश्वत सुख को प्राप्त होता है।

गुण परजाय गहि बण्यौ है सरूप जाकौ,
गुण परजाय विनु द्रव्य नाहिं पाईए।
द्रव्य कौ सरूप गहि गुण परजाय भए,
द्रव्य ही मैं गुण परजाय ए बताईए।
सहज सुभाव जातैं भिन्न न बतायो द्रव्य,
विन ही सुभाव वस्तु कैसैं ठहराईए।
तातैं स्यादवाद विधि जग मैं अनादि सिद्ध,
वचन के द्वारि कहो कहाँ लगिपाईए।।७३।।

अर्थ :– द्रव्य का स्वरूप गुण और पर्यायों से बना है। कोई भी द्रव्य – गुण-पर्याय के बिना नहीं पाया जाता है। प्रत्येक द्रव्य निज स्वरूप को ग्रहण करने के कारण गुण पर्याय रूप होता है। सहज स्वभाव से द्रव्य भिन्न नहीं है, क्योंकि द्रव्य का ही स्वरूप लेकर द्रव्य में ही गुण-पर्याय होते हैं। बिना स्वभाव के वस्तु का अस्तित्व ही नहीं ठहरता है, वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है वह गुण-पर्यायरूप है।

स्याद्वाद विधि के द्वारा ऐसे वस्तुस्वरूप की सिद्धि अनादि काल से है, उसका वर्णन वचन अर्थात् भाषावर्गणा से कहाँ तक करें अर्थात् नहीं किया जा सकता है। (वाणी वह जड़ है और आत्मस्वभाव की अचिन्त्य महिमा है।)

गुण के सरूप ही तैं द्रव्य परजाय है है,
केवली उकति धुनि ऐसै करि गावे है।
द्रव्य गुण दोऊ परजाय ही में पाइयतु हैं,
द्रव्य ही मैं गुण परजाय ए कहावै है।
यातैं एक एक में अनेक सिद्धि होत महा,
स्यादवाद द्वारि गुरुदेवयौं बतावै हैं।
कहै दीपचन्द पद आदि देकै कौऊ सुनो,
आप पद लखें भवि भवपार पावै है।।७४।।

अर्थ :- केवली भगवान की दिव्यध्वनि में युक्तिपूर्वक ऐसा आया है कि गुणों के स्वरूप से ही द्रव्य और पर्याय होते हैं। गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं और गुणों के परिणमन (कार्य) को पर्याय कहते हैं, पर्याय में ही द्रव्य और गुण दोनों पाये जाते हैं तथा द्रव्य में ही गुण-पर्याय कहे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु एक होकर भी अनेक रूप और अनेक होकर भी एकरूप है ऐसा स्याद्वाद द्वारा सद्गुरु देव ने बताया है। पण्डित दीपचन्द्रजी कहते हैं कि वे भव्यजीव जो अपने पद को देखते हैं, वे ही संसार-समुद्र से पार होते हैं।

एक गुण सेती दूजे गुणसौं लगाय भेद,
सधत अनंतबार सात भंग नीके हैं।
एक एक गुणसेती अनंता अनंतबार,
साधत अनंत लगि लगैं नाहिं फीके हैं।
अनंता-अनंत बार एक एक गुण सेती,
साधिए सपतभंग भेदिए सुहीके है।
यातैं चिदानंदमैं अनादिसिद्ध सुद्धि महा,
पूरण अनंत गुण दीप लखे जीके है।।७५।।

अर्थ :– आत्मा अनंत गुणोंरूप समूह (पिण्ड) है, जिसमें एक गुण का दूसरे गुण से भेद करके सप्तभंगी (अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य आदि) रूप से देखने पर अनन्त सप्तभंगी सिद्ध होती हैं। इसप्रकार एक-एक गुण का अनंतबार विचार किया जाय अर्थात् उन गुणों का बार-बार चिन्तवन किया जाय तो भी वे फीके नहीं लगते हैं अर्थात् रुचि बनी रहती है। एक-एक गुण का अनन्तानन्त बार सप्तभंगी द्वारा विचार किया जाय तब मालूम पड़ता है कि यह सब उसी के भेद हैं। इसलिए चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा अनादि से अनंत गुणरूप तथा परमपवित्र शुद्ध ही है। ऐसा अनंत गुण स्वरूप भगवान आत्मा है।

गुण एक एक जाकै परजै अनंत कहै,
परजै मैं अनन्तानन्त नाना विस्तर्‌यौ है।
नाना में अनंत थट थट में अनंत कला,
कलांजि अखंडित अनंत रूप धर्‌यो है।
रूप मैं अनंत सत्ता सत्ता मैं अनंत भाव,
भाव कौ लखाव हू अनंत रस भर्‌यौ है।
रस के सुभाव मैं प्रभाव है अनंत दीप,
सहज अनंत यौ अनंत लगि कर्‌यौ है।।७६।।

अर्थ :– आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुये कहते हैं कि आत्मा में अनंत गुण हैं और एक-एक गुण की अनंत पर्यायें हैं तथा पर्यायें अनेक प्रकार विस्तार (अविभागी प्रतिच्छेद) को प्राप्त हैं। उस विस्तार में अनन्त थट है और थट में अनन्त कलायें हैं। कलायें अखंडित, अनन्त रूप को धारण किये हुये हैं। रूप में अनंत सत्ता और सत्ता में अनंत भाव हैं, उन भावों के देखने पर उनमें अनंत रस भरा है तथा रस के स्वभाव में अनंत प्रभाव हैं – ऐसी सहज अनंतता अनंत काल तक रहती है, ऐसी द्रव्यस्वभाव की महिमा है।

दरब स्वरूप सोतों द्रव्य माहिं रहै सदा,
और को न गहै रहै जथारथ ताई है।

गुण को स्वरूप गुणमाहिं सो बिराज रहें,
परजाय दसा वाकी वाहि माहिं गाई है।
जैसो गुण जाकौं जाकौ जाही भाँति करै और,
विषमता हरै वामै ऐसी प्रभुताई है।
तत्व है सकति जामैं विभुत्व अखंड तामैं,
कहै दीप ऐसै जिनवाणी में दिखाई है।। ७७।।

अर्थ :– आत्मा की शक्ति एवं स्वरूप का वर्णन करते हुये कहते हैं कि आत्मद्रव्य का स्वरूप सदा आत्मद्रव्य में ही रहता है, किसी दूसरे का स्वरूप ग्रहण नहीं करने से सदाकाल यथार्थरूप ही रहता है। गुण गुणस्वरूप ही रहता है और पर्याय पर्यायरूप ही रहती हुई उसी में रहती है। आत्मा में ऐसी प्रभुत्व शक्ति है कि जिसका जो गुण है, वह उस ही भाँति परिणमता है और अन्य विषमता अर्थात् विकार दूर करता है। इस आत्मतत्त्व में ऐसी शक्ति है, जिसके कारण अखंड विभुत्व (वैभव) बना रहता है – ऐसा जिनवाणी में वर्णन किया गया है।

जाके देस देस मैं विराजित अनंत गुण,
गुण माहिं देस असंख्यात गुण पाइए।
एक एक गुणनि मैं लक्षण है न्यारो न्यारो,
सबन की सत्ता एक भिन्नता न गाइए।
परजाय सत्ता माहिं व्यय उत्पाद ध्रुव,
षटगुणी हानि वृद्धि ताही में बताइए।
निहचै स्वरूप स्व के द्रव्य गुण परजाय,
ध्यावौ सदा तातैं जीव अमर कहाइए।।78।।

अर्थ :– आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनंत गुण व एक-एक गुण में असंख्यात प्रदेश व्याप्त हैं, फिर भी प्रत्येक गुण के लक्षण भिन्न हैं; किन्तु सबकी सत्ता एक है, पृथक् सत्ता नहीं है। पर्याय में अपनी सत्ता से उत्पाद-व्यय-ध्रुव तथा षट्गुणी हानि-वृद्धि रूप परिणमन होता रहता है। इसप्रकार निश्चय स्वरूप अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का जो सदैव ध्यान करता है, उसे ही अजर-अमर मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

गुण एक एक मैं अनेक भेद ल्याय करि,
द्रव्य गुण परजाय तीनों साधि लीजिए।
नय उपचार और नय की विविक्षा साधि,
ताही भाँति द्रव्य माहिं तीनों भेद कीजिए।
परजाय परजाय माहिं मुख्य द्रव्य सो है,
याही रूप गुण तीनों यामैं साधि दीजिए।
याही भाँति ए कर अनेक भेद सबै साधि,
देखि चिदानंद दीप सदा चिर जीजिए।।७६।।

अर्थ :– आत्मा में अनेक गुण और प्रत्येक गुण में अनंत भेद – ऐसा द्रव्य-गुण-पर्याय तीन भेदरुप से जाना जाता है। नय उपचार तथा नय की विविक्षा से भी द्रव्य में तीन भेद होते हैं। पर्याय पर्याय में द्रव्य द्रव्य में गुण गुण में है। इस भाँति तीन भेद से आत्मा का विचार करना चाहिये। इसप्रकार आत्मा में अनेक भेद-प्रभेद को जान कर आत्मा को पहचान कर मान कर उसी में जमना (रमना) चाहिये और सादि अनन्त काल तक शाश्वत सुख आनन्द में मग्न हो जाना चाहिये।

आप सुद्ध सत्ता की अवस्था जो स्वरूप करै,
सो ही करतार देव कहै भगवान है।
परिणाम जीव ही को करम करावे यातैं,
प्रणति क्रिया जाकौं जानै सो ही जान है।
करता करम क्रिया निहचै विचार देखैं,
वस्तुसौं न भिन्न होइ यहै परमान है।
कहै दीपचन्द्र ज्ञाता ज्ञान मैं विचारै सो ही,
अनुभौ अखंड लहि पावै सुखथान है।।८०।।

अर्थ :– जीव की शुद्ध सत्तारूप अवस्था का कर्ता स्वयं भगवान आत्मा ही है तथा जिन परिणामों को कर्म करानेवाला कहा जाता है उन परिणामों को जाननेवाला भी जीव का ज्ञान ही है। निश्चय से विचार किया जावे तो कर्ता, कर्म क्रिया, आत्मवस्तु से अभिन्न है जो प्रामाणिक है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि जो ज्ञानी जीव ज्ञान में

इसप्रकार विचार करता है वही जीव अनुभव में अखंड मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

गुण कौ निधान अमलान है अखंडरूप,
तिहुँलोक भूप चिदानंद सो दरसि है।
जामैं एक सत्तारूप भेद त्रिधा फैलि रह्यौ,
जाकै अवलोकैं निज आनंद वरसि है।
द्रव्यहीतैं नित्य परजायतैं अनित्य महा,
ऐसैं भेद धरि कै अभेदता परसि है।
कहिए कहाँलौं जाकी महिमा अपार दीप,
देव चिद्रूप की सुभावता सरसि है।।८१।।

अर्थ :– आत्मस्वभाव का वर्णन करते हुये पण्डितजी कहते हैं कि आत्मा अनंत गुणों का निधान (खजाना) है जो कि परम पवित्र अखंडरूप से तीनों लोकों का स्वामी चिदानंदरूप है। जो एक सत्ता मात्र है और भेद अपेक्षा से तीन रूप है, जिसे देखने पर आनन्द की बरसात होती है। द्रव्य स्वभाव अपेक्षा आत्मा नित्य तथा पर्याय अपेक्षा आत्मा अनित्य है, इसप्रकार के भेद होते हुये भी आत्मा एक अभेद ही रहता है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि ऐसी आत्मा की महिमा कहाँ तक कही जाय चिद्स्वरूप भगवान आत्मा स्वभाव से ही सरस है।

सहज आनन्दकन्द देव चिदानन्द जाकौ,
देखि उरमाहिं गुणधारी जो अनंत है।
जाकै अवलोके यौ अनादिकौ विभाव मिटै,
होय परमात्मा जो देव भगवंत है ।
सिवगामी जन जाकौ तिहूँकाल साधि-साधि,
वाही कौ स्वरूप चाहै जेते जगि संत है।
कहै दीप देखि जो अखंड पद प्रभु कौ सौ,
जातै जगमाहिं होय परम महंत है।। ८२।।

अर्थ :– आत्मा सहज आनंदकंद अनंत गुणधारी चिद्-आनंद रूप है। इस रूप को जो हृदय में अन्दर देखता है, उसके देखने मात्र से

अनादि से चले आ रहे विभाव भाव मिट जाते हैं और परमात्म पद को प्राप्त होता है। मोक्षगामी पुरुष ऐसे स्वभाव की ही तीनों काल साधना करते हैं तथा जगत के सारे संत भी उसी स्वरूप को चाहते हैं। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि ऐसा अखंड पद जो साक्षात् परमात्मा के समान है, उसके आश्रय से संसार में बड़े से बड़े पद की प्राप्ति होती है।

आतम करम दोऊ मिले है अनादि ही के,
याहीतैं अज्ञानी है कै महा दुख पायौ है।
करिकै विचार जब स्व पर विवेक ठान्यौ,
सबै पर भिन्न मान्यौ नाहिं अपनायौ है।
तिहूंकाल शुद्धज्ञान-ज्योति की झलक लीए,
सासतौ स्वरूप आप पद उर भायौ है।
चेतना निधान मैं न आन कहूँ आवन दे,
कहै दीपचन्द संत वंदित कहायौ है।।८३।।

अर्थ :– पण्डितजी कहते हैं कि अनादि काल से आत्मा और कर्म दोनों मिले हुये हैं ऐसा मानने से अज्ञानी बहुत दुखी होता है; परन्तु जब विचार करके स्व पर विवेक करता है, तब सबको भिन्न-भिन्न मानता है और कर्म को नहीं अपनाता है। तीनों काल अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञानजोतिरूप ही देखता है और शाश्वत स्वरूप ही उसे अच्छा लगता है। चेतना के खजाने भगवान आत्मा में किसी पर का प्रवेश नहीं है – ऐसा आत्मतत्त्व संतों के द्वारा भी वंदनीय कहा है।

आगम अनादि कौ अनादि यौं बतावतु है,
तिहुँकाल तेरो पद तोहि उपादेय है।
याही तैं अखंड ब्रह्मंड कौ लखैया लखि,
चिदानंद धारै गुणवृंद सोही धेय है।
तू तौ सुखसिन्धु गुणधाम अभिराम महा,
तेरो पद ज्ञान और जानि सब ज्ञेय है।

एक अविकार सार सब मैं महंत सुद्ध,
ताहि अवलोकि त्यागि सदा पर हेय है।।८४।।

अर्थ :– तीनों काल तेरा आत्मा ही तुझे उपादेय है – ऐसा अनादि से जिनवाणी में बताया है, इसलिये एक अखंड आत्मद्रव्य को जो देखता है, वह उस आत्मा के अनंत गुणों के समूह को धारण करता है जो कि इसका ध्येय है। आगे कहते हैं कि हे आत्मन् ! तू तो सुख का सागर, अनंत गुणों का धाम, महा सुन्दर है। तेरा पद ज्ञानमात्र है और सब ज्ञेय है। एक अविकार साररूप तू स्वयं है उसे ही देखना और सब को हेय समझकर उनसे दृष्टि हटाना।

याही जग माहिं ज्ञेय भाव कौ लखिया ज्ञान,
ताकौ धरि ध्यान आन काहै पर हेरै है।
पर के संयोग तैं अनादि दुख पाए अब,
देखि तू संभारि जो अखंड निधि तेरै है।
वाणी भगवान की कौ सकल निचोर यहै,
समैसार आप पुन्य-पाप नहिं नेरै है।
यातैं यह ग्रन्थ सिव-पंथ कौ सधैया महा,
अरथ विचारि गुरुदेव यौं परे रहै।।८५।।

अर्थ :– इस संसार में ज्ञेय भावों को जाननेवाला ज्ञान का ध्यान करना चाहिये, उसे अन्यत्र कहाँ ढूंढते हो ? पर संयोगों में ढूंढने से अनादि से दुख ही पाया है, अब उसे ही यत्न से देख जो अखंड निधि स्वरूप है। जिनेन्द्रदेव की वाणी का सार भी यही है कि आप समयसार (आत्मतत्त्व) स्वयं है, पुण्य-पाप ने उसे आजतक स्पर्श भी नहीं किया है। इसलिये यह ग्रन्थ मोक्षपन्थ (मार्ग) का साधन है। इसी के स्वरूप का विचार करना चाहिये, सत् गुरुदेव ऐसी प्रेरणा दे रहे हैं।

व्रत तप सील संजमादि उपवास क्रिया,
द्रव्य भाव रूप दोऊ बन्ध कौ करतु हैं।
करम जनित तातैं करम कौं हेतु महा,
बन्ध ही कौ करै मोक्षपंथ कौं हरतु हैं।

आप जैसो होय ताकौं आप कै समान करै,
बन्ध ही को मूल यातैं बन्ध को भरतु है।
याकौं परंपरा अति मान करतूति करै,
तेई महा मूढ़ भव-सिन्धु मैं परतु है।।८६।।

अर्थ :– व्रत-तप-शील-उपवास-संयमादि शुभभाव और शुभक्रियायें दोनों बन्ध की करनेवाली हैं। क्योंकि यह कर्मजनित परिणाम होने से करमबन्ध के ही कारण हैं, बन्ध को करते हैं और मोक्षमार्ग को नष्ट करते हैं। क्योंकि जो जैसा होता है, वह अन्य को भी आप समान ही करता है इसलिये बन्ध के मूल कारण होने से बन्ध को ही करते हैं। जो जीव (शुभभाव) को परम्परा मोक्ष का कारण मानते हैं, वे मूर्ख संसारसमुद्र में पड़ते हैं।

कारण समान काज सब ही बखानतु है,
यातैं पर क्रिया माहिं पर की धरणि है।
याही तैं अनादि द्रव्य क्रिया तौ अनेक करी,
कछु नाहिं सिद्धि भई ज्ञानकी परणि है।
करम कौ वंस जामैं ज्ञान को न अंश कोऊ,
बढ़ै भव वास मोक्ष-पंथ की हरणि है।
यातैं परक्रिया उपादेय तौ न कही जाय,
तातैं सदा काल एक बन्ध की ढरणि है।।८७।।

अर्थ :– यह सब जानते हैं कि कारण के समान कार्य होता है इसलिये परद्रव्य की क्रिया परद्रव्य ही को धारण करनेवाली है। इस जीव ने अनादि से परद्रव्य की क्रिया तो अनेक प्रकार की, परन्तु उससे कुछ सफलता प्राप्त नहीं हुई, उलटा ज्ञान की हानि ही हुई है। जिन क्रियाओं में कर्म की संतति है और ज्ञान का अंश भी नहीं है, वे क्रियायें संसार ही बढ़ाती हैं तथा मोक्ष को हरने वाली है। इसलिये पर क्रियाओं में उपादेयपना तो है ही नहीं अपितु सदा काल बन्ध को ही करनेवाली है।

पराधीन बाधायुत बंध की करैया महा,
सदा बिनासीक जाकौ ऐसौ ही सुभाव है।
बन्ध उदै रस फल जी मैं च्याख्यौ एक रूप,
सुभ व असुभ क्रिया एक ही लखाव है।
करम की चेतना मैं कैसें मोक्षपंथ सधै,
मानै तेई मूढ़ हीए जिनकै विभाव है।
जैसो बीज होय ताकौ तैसो फल लागे जहाँ,
यह जग माहिं जिन-आगम कहाव है।।८८।।

अर्थ :– परद्रव्यरूप क्रिया या शुभाशुभभाव पराधीन है, बाधा सहित है; इसलिये बन्ध के करनेवाले हैं और स्वभाव से ही विनाशीक है। जिस जीव ने बन्ध के उदय अर्थात् उसके फल में रस लिया है। उसे शुभ व अशुभ क्रिया एक जैसी लगती है। कर्मफल चेतना में मोक्षमार्ग नहीं बन सकता है। जिनके हृदय में विभाव भाव हैं, वे ही मूर्ख जन ऐसा मानते हैं। भगवान की वाणी में तो ऐसा आया है कि जिसका जैसा बीज होगा उसका वैसा ही फल लगेगा।

क्रिया सुभ कीजै पै ममता न धरीजै कहूँ,
हूजै न विवादी यामैं पूज्य भावना ही है।
कीजै पुन्य काज सो समाज सारो पर ही को,
चेतना की चाहि नाहिं सधै याकै याही है।
याकौं हेय जानि उपादेय मैं मगन हूजै,
मिटै है विरोध बाद रहै न कहाँ ही है।
आठोंजाम आतम की रुचि में अनन्त सुख,
कहैं दीपचन्द ज्ञान भाव हू तहाँ ही है।।८९।।

अर्थ :– पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं शुभक्रिया तो करे, पर उसमें ममत्व नहीं करना चाहिये, इसमें विवाद नहीं करना चाहिये, इसमें पूज्य भावना ही है। जो जीव पुण्य कार्य करता है, वह सब पर का ही करना है, उसे अपने चैतन्य आत्मा की रुचि नहीं है। इसलिये इन पुण्य क्रियाओं को भी हेय रूप जानकर अपने निज आत्मा को

उपादेय मानकर उसी में मग्न होना, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है, इसलिये आठों प्रहर (दिनरात) निरन्तर आत्मा की रुचि रखने में ही अनन्त सुख है और ज्ञानभाव भी वहाँ ही है।

(दोहा)

सकल एक परमात्मा, गुण ज्ञानादिक सार।
सुध परणति पर्याय है, श्रीजिनवर अविकार।।६०।।

अर्थ :– श्री अरिहन्त परमात्मा जो शरीर सहित परमात्मा है और केवल ज्ञानादि गुणों सहित है तथा वीतराग परणति रूप पर्याय सहित, रागादि विकार रहित है।

विमल सरीर जाकौ रुधिर बरण खीर,
स्वेद तन नाहिं आदिसंस्थान धारी है।
संहनन आदि अति सुन्दर स्वरूप लीएं,
परम सुगंध देह महा सुखकारी है।
धरै सुभ लक्षण कौं हित मित बैन जाके,
बल है अनंत प्रभु दोष दुखहारी है।
अतिसै सहज दस जनम तैं होई ऐसै,
तिहुँलोकनाथ भवि जीव निसतारी है।।६१।।

अर्थ :– अरिहन्त परमात्मा का शरीर परम औदारिक पवित्र जिसमें सफेद रंग का खून होता है और पसीने से रहित होता है तथा समचतुरस्रसंस्थान होता है। वे बज्रवृषभनाराचसंहनन के धारी होते हैं और बहुत सुन्दर रूपवान होते हैं उनका शरीर परम सुगन्धित परम सुख का करने वाला है जिनके शरीर में शुभ चिन्ह (लक्षण) हैं और जो हित-मित- प्रिय वचन बोलते हैं, अनंत बल के धारी सब दुख दूर करनेवाले हैं – ऐसे श्री अरहन्त भगवान (तीर्थंकर) के जन्म से ही दस प्रकार के अतिशय होते हैं।

गगन गमन जाकै दोय शत जोजन में,
सुरभिक्ष च्यारौं दिसि छाया नाहिं पाइए।
नयन पलक नाहिं लगै न आहार ताकै,
सकल परम विद्या प्रभु कै बताइए।

प्राणी कौ न बध उपसर्ग नाहिं पाइयतु,
फटिक समान तन महा सुद्ध गाईए।
केस नख बढ़ैं नाहिं घातिया करम गएं,
अतिसै जिनेन्द्रजी के मन मैं अनाइए।।६२।।

अर्थ :– अरहन्त भगवान के केवलज्ञान के दस अतिशयों का वर्णन करते हुये पण्डितजी कहते हैं कि केवलज्ञान हो जाने पर आकाश में गमन, दौ सौ योजन तक चारों दिशाओं में अकाल नहीं पड़ना, उनके शरीर की छाया न पड़ना, पलकों का न झपकना, कबलाहार न लेना, समस्त विद्या के धनी होना, किसी प्राणी का वध न होना, उपसर्ग का न होना, स्फटिक के समान सुन्दर शरीर होना, नख केश न बढ़ना आदि घातिया कर्मों के नष्ट होने पर केवलज्ञान के अतिशय प्रगट होते हैं। इसप्रकार दस अतिशय के धारी अरिहन्त भगवान होते हैं।

सकल अरथ लिएं मागधीय भाषा जाकै,
तहाँ सब जीवनके मित्रता ही जानिए।
दरपण सम भूमि गंधोदकवृष्टि होय,
परम आनंद सब जीव कौ बखानिए।
सब ऋतु के फल फूल ह्वै वनस्पति,
यौं न देव भूमि मैं जै उजूल यौ मानिए।
चरण कमल तलि रचहिं कमल सुर,
मंगल दरब वसु हीए मैं प्रमानिए।।६३।।

अर्थ :– अरहन्त भगवान के देवों द्वारा अतिशयों का वर्णन करते हुये कहते हैं कि अर्द्ध मागधी भाषा जिसे सभी लोग (समोशरण में बैठे) समझ सकते हैं। (दिव्यध्वनि औंकारमय खिरती है जिसका भाव सभी अपनी भाषा में समझ सकते हैं।) समोशरण में बैठे सभी जीवों में आपस में मित्रता का भाव होता है (शेर, बकरी, चूहा, बिल्ली कोई भी हो।) दर्पण के समान स्वच्छ भूमि होती है और आकाश से गन्धोदक की वृष्टि होती है, जिससे सभी जीवों में आनंद होता है। एक साथ सभी

ऋतुओं के फल-फूल आने लग जाते हैं। सब भूमि कंकररहित होती है। भगवान जब गमन करते हैं तब उनके चरणों के नीचे देव कमलों की रचना करते हैं और अष्ट मंगल द्रव्य भी रहते हैं।

विमल गगन दिसि बाजत सुगन्ध वायु,
धान्यको समूह फलै महा सुखदानी है।
चतुरनि काय देव करत हंकार जहाँ,
धर्मचक देखि सुख पखै भवि प्राणी है।
देवन के कीए यह अतिसै चतुरदस,
महिमा सु पुण्य केरी जग मैं बखानि है।
कहै दीपचंद जाकौं इन्द हू से आय नमैं,
ऐसौ जिनराज प्रभु केवल सुज्ञानी है।।६४।।

अर्थ :– केवलज्ञानी भगवान जहाँ विराजमान होते हैं वहाँ निर्मल आकाश तथा दसों दिशायें सुगन्धित हो जाती हैं। पृथ्वी धन-धान्य से समृद्ध महासुखदानी हो जाती है, चारों प्रकार के देव जहाँ जय-जयकार शब्दों का उच्चारण करते हैं। जिनेन्द्र देव के आगे-आगे धर्मचक्र चलता है, जिसे देखकर सभी प्राणी सुख को प्राप्त होते हैं। इसप्रकार देवताओं द्वारा यह चौदह अतिशय होते हैं जो महा महिमावान एवं शुभ पुण्य के उदय में होते हैं। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि ऐसे जिनेन्द्र देव को देवराज इन्द्र भी नमस्कार करते हैं। ऐसे अरिहन्त भगवान केवलज्ञानी हैं।

करत हरण शोक ऐसौ है अशोक तरु,
देवनकी करी फूलवृष्टि सुखदाई है।
दिव्यध्वनि करि महा श्रवण कौ सुख होत,
सिंहासन सोहे सुर चमर ढराई है।
भामंडल सोहै सुखदानी सब जीवन कौं,
दुंदुभि सुबाजै जहाँ अति अधिकाई है।
त्रिभुवनपति प्रभु यातैं है छतर तीन,
महिमा अपार ग्रन्थ ग्रन्थनि मैं गाई है।।६५।।

अर्थ :– जहाँ अरिहन्त भगवान विराजमान होते हैं, वहाँ आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनका वर्णन करते हुये कहते हैं कि उनके निकट अशोक वृक्ष होता है, जो सब जीवों का दुख दूर करता है, देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि होती है, जो सभी जीवों को सुख देनेवाली है। जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि सुनने से सभी जीवों को सुख की प्राप्ति होती है। सुन्दर सिंहासन होता है, देवगण चमर ढोलते हैं तथा भामडंल की शोभा सभी जीवों को सुखदाई है, सुखकारी दुन्दुभि बाजे बजते हैं, तीनों लोकों के स्वामी होने से तीन छत्र सिर पर शोभायमान होते हैं। ऐसी अपार महिमा सभी शास्त्रों में वर्णन की गई है।

परम अखंड ज्ञान माहिं ज्ञेय भासत है,
ज्ञेयाकार रूप व्यवहार नै बतायो है।
निहचै निरालो ज्ञान ज्ञेय सौ बखान्यौ जिन,
दरसन निराकार ग्रन्थनि में गायो है।
बीरज अनन्त सुख सासतौ सरूप लीए,
चतुष्टै अनन्त वीतराग देव पायौ है।
जिनको बखानत ही ऐसे गुण प्रापति है,
यातैं जिनराजदेव दीप उर भायौ है।।६६।।

अर्थ :– अरिहन्त भगवान के अनन्त चतुष्टय का वर्णन करते हुये पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि भगवान के परम अखंडित ज्ञान में ज्ञेय भासित होते हैं, अतः ज्ञान को ज्ञेयाकार रूप व्यवहार नय बताता है, निश्चय नय से तो ज्ञान ज्ञेयों से भिन्न ही है – ऐसा जिनदेव ने कहा है। ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है, ऐसा आगम ग्रन्थों में कहा है। अनंत वीर्य, अनंत सुख आदि अनंत चतुष्टय को प्राप्त वीतराग देव हैं, जिनका वर्णन करने से ही ऐसे गुणों की प्राप्ति होती है। ऐसे अरहन्त भगवान सदैव मेरे हृदय में विराजमान रहें अर्थात् स्मरण रहें।

(दोहा)

सकल करमसौं रहित जो, गुण अनंत परधान।
किंच ऊन परजाय है,वहै सिद्ध भगवान।।६७।।

अर्थ :– समस्त कर्मों से रहित अनंत गुण जिनके प्रगट हुये हैं तथा मूल शरीर से किंचित् कम शरीराकार आत्मा के प्रदेश स्थिर हो गये हैं, वे ही सिद्ध भगवान हैं।

गुण छत्तीस भंडार जे, गुण छत्तीस हैं जास।
निज शरीर परजाय है, आचारज परकास।।६८।।

अर्थ :– आचार्य परमेष्ठी छत्तीस गुण सहित होते हैं जिनमें बारह तप, दस धर्म, षट् आवश्यक, पाँच आचार, तीन गुप्ति हैं तथा अपने शरीर को पर्यायरूप अनुभवते हैं – ऐसे आचार्य परमेष्ठी हैं।

पूरवांग ज्ञाता महा, अंगपूर्व गुण जानि।
जिह शरीर परजाय है, उपाध्याय सौ मानि।।६६।।

अर्थ :– उपाध्याय परमेष्ठी ग्यारह अंग चौदह पूर्व के ज्ञाता होते हैं तथा पठन-पाठन में लीन रहते हैं। शरीर को अपने से भिन्न पर्यायरूप अनुभव करते हैं – ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी हैं।

आठ बीस गुण कौं धरे, आठ बीस गुणलीन।
निज शरीय पर्याय है, महा साधु परवीन।।१००।।

अर्थ :– साधु परमेष्ठी जो अट्ठाईस मूलगुणों के धारी होते हैं, जिनके पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय विजय, षट् आवश्यक और शेष सात गुण होते हैं। अपने शरीर को पर्यायरूप अनुभव करते हैं, वे ही साधु परमेष्ठी हैं।

(सवैया इकत्तीसा)

गुणपरजाय युत द्रव्य जीव जाके गुण,
है अनंत परजाय पर परिणति है।
परमाणु द्रव्यरूप सपरस रस गंध,
गुण परजाय षट्वृद्धिहानि वति है।

गति तिथिहेतु द्रव्य गति तिथि गुण-पर,
जाय वृद्धि हानि धर्म अधर्म सुसति है।
अवगाह वरतना हेतु दोऊ दरब मैं,
येही गुण परजाय वृद्धि हानि गति है।।१०१।।

अर्थ :– छहों द्रव्य गुण-पर्याय सहित होते हैं। जीव द्रव्य अनंत गुणों का धनी हैं और उन गुणों की अनंत पर्यायों का स्वामी है। पुदगल द्रव्य जो परमाणु रूप है स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णस्वरूप है, उन गुणों के परिणमन में (पर्याय में) षट् गुणी हानि-वृद्धि होती है। गतिहेतुत्व धर्म द्रव्य तथा स्थितिहेतुत्व अधर्म द्रव्य में भी प्रतिसमय परिणमन हानि-वृद्धि रूप होता रहता है। अवगाहनहेतुत्व आकाश द्रव्य का और परिणमन हेतुत्व काल द्रव्य का स्वभाव है, इनके गुण-पर्याय हानि-वृद्धि रूप होते ही रहते हैं।

संज्वलन कषाय थूल उदै मोह सूक्षम कै,
थूल मोह क्षय तथा उपसम कह्यौ है।
याही करि कारणतैं संजम को भाव होय,
छट्ठा गुणथान माहिं महा लहिलह्यौ है।
ताकौ मिथ्यामती केऊ मूढ़ जन मानतु है,
नय की विवक्षा भेद कछु नाहिं गह्यौ है।
सहज प्रतच्छ शिव-पंथ मैं निषेध कीने,
यहाँ न विरोध कोऊ रंच हू न रह्यौ है।।१०२।।

अर्थ :– मुनिराज के संज्वलन कषाय का उदय होता है जिसके कारण मोह भाव सूक्ष्म रूप से रहता है और स्थूल मोह का क्षय तथा उपशम कहा है। इस कारण से संयम का भाव होता है तथा छट्ठे गुणस्थान को प्राप्त होता है उसे ही मिथ्यादृष्टि मूर्ख मोक्षमार्ग मानता है और नय विविक्षा को नहीं समझता है। जिसका कि मोक्षमार्ग में प्रत्यक्ष रूप से निषेध किया है मोक्षमार्ग सहज प्रत्यक्ष है जिसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

सुभ वा अशुभ नाम जागै समभाव करै,
भली बुरी थापना मैं समता करीजिएं।
चेतन अचेतन वा भलो बुरो द्रव्य देखि,
धारिकै विवेक तहाँ समता धरीजिएं।
शोभन अशोभन जो ग्राम वनमांहि सम,
भलै बुरै समैं हूँ मैं सम भाव कीजिए।
भले बुरे भावनि मैं कीजे समभाव जहाँ,
सामायिक भेद षट् यह लख लीजिए।।१०३।।

अर्थ :– सामायिक के छह भेदों का वर्णन करते हुये कहते हैं कि शुभ व अशुभ नाम में समता भाव करना तथा भली बुरी स्थापना में समता भाव धारना, चेतन अचेतन व अच्छे बुरे द्रव्यों को देखकर विवेक तथा समता रखना। सुन्दर-असुन्दर ग्राम-वन में भी समता भाव तथा अच्छे बुरे समय में भी समता भाव रखना चाहिये। इसप्रकार समायिक के छह भेद हैं।

करम कलंक लगि आयौ है अनादि ही को,
यातैं नाहिं पाई ज्ञानदृष्टि परकाशनी।
गति-गति माहिं परजाय ही कौ आपौ मान्यौ,
जानी न सरूप की है महिमा सुभासनी।
रंजक सुभाव सेती नाना बंध करै जहाँ,
परि परफंद थिति कीनी भववासनी।
भेदज्ञान भयेमैं सरूपमैं संभारि देखी,
मेरी निधि महा चिदानंद की विलासनी।।१०४।।

अर्थ :– पण्डितजी कहते हैं कि इस आत्मा के साथ अनादि से ही कर्मरूपी कलंक साथ में ही हैं, जिसके कारण स्व-परप्रकाशक ज्ञानदृष्टि प्राप्त नहीं कर सका। गति-गति में प्राप्त पर्याय को ही अपना रूप माना, इसलिये स्व संवेदन रूप स्वभाव की महिमा आज तक नहीं हुई। कर्म के फल में रंजायमान होने के कारण संसारगमन करानेवाला कर्मबन्ध करता रहा, किन्तु भेदविज्ञान होने पर जब स्वरूप की सँभाल

कर देखता है, तब अपनी चिदानन्द चैतन्य निधि में विलास करता है।

महा-रमणीक ऐसौ ज्ञानजोति मेरो रूप,
सुद्ध निज रूप की अवस्था जो धरतु है।
कहा भयौ चिर सौं मलीन ह्वै कै आयौ तोऊ,
निहचै निहारै परभाव न करतु है।
मेघ घटा नभ माहिं नाना भाँति दीसतु हैं,
घटा सौं न होय नभ शुद्धता बरतु हैं।
कहै दीपचन्द तिहूँलोक प्रभुताई लिए,
मेरे पद देखें मेरौ पद सुधरतु है।।१०५।।

अर्थ :– ज्ञानस्वभाव की महिमा का वर्णन करते हुये पण्डितजी बताते हैं कि मेरा ज्ञान स्वभाव बहुत सुन्दर शुद्धता धारण किये हुये है, क्योंकि ज्ञान नाना ज्ञेयों को जानते हुये भी ज्ञानरूप ही रहता है। अनादि काल से कर्ममल के साथ रहने से मलीन होता हुआ दिखाई देता है, परन्तु निश्चय से देखा जाये तो परभाव रागद्वेषमोह होते हुये भी आत्मा उनका कर्ता नहीं है। जिसप्रकार आकाश में अनेक रूप बादल दिखते हुये भी उनसे आकाश अशुद्ध नहीं होता, उसीप्रकार इस आत्मा का स्वरूप सदा काल शुद्धता अपना वैभव लिए हुये ही रहता है, मलीन नहीं होता। अपने स्वभाव पर दृष्टि देने से पर्याय में शुद्धता आती है।

काहे पर भावनमैं दौरि-दौरि लागतु है,
दसा पर भावन की दुखदाई कही है।
जगमाहिं दुख परसंगतैं अनेक सहै,
तातैं परसंग तोकौं त्याग जोगि सही है।
पानी के विलोए कहूँ पाइए घीरत नाहिं,
काँच न रतन होय ढूँढौ सब मही है।
यातैं अवलोकि देखि तेरे ही सरूपकी सु,
महिमा अनंतरूप महा बनि रही है।।१०६।।

अर्थ :– पण्डितजी कहते हैं कि जीव तू विभाव भावों में क्यों रचन्पच जाता है, ज्ञेयों की ओर क्यों उपयोग लगता है। परभाव रूप दशा सदा दुखदाई है। संसार में अनादि से पर की संगति के कारण अनेक दुख सहे हैं, इसलिये पर की संगति छोड़ने योग्य ही है। जिसप्रकार पानी विलौने पर घी की प्राप्ति नहीं हो सकती, काँच कभी रत्न नहीं हो सकता चाहे सारी पृथ्वी पर खोजो। इसीलिये अपने स्वरूप को ही देखो जिसकी अनादि से अनंत रूप महिमा है, कभी पर रूप नहीं होता है।

भेदज्ञान धारा करि जीव पुद्गल दोऊ,
न्यारा-न्यारा लखि करि करम विहंडनी।
चिदानंद भावकौ लखाव दरसाव कीयो,
जामैं प्रतिभासे थिति सारी ब्रह्मांड नी।
करम कलंक पंक परि हरि पाई महा,
सुद्ध ज्ञानभूमि सदा काल है अखंडनी।
तेई समकिती हैं सरूप के गवेषी जीव,
सिवपदरूपी कीनी दसा सुखपिंडनी।।१०७।।

अर्थ :– भेदविज्ञान के द्वारा जीव और पुद्गल को भिन्न-भिन्न देखने की दृष्टि ही कर्म का नाश करनेवाली है। जिसने अपने चिदानन्द स्वरूप को देखा है उसी को सारे ब्रह्मांड (विश्व) की स्थिति का ज्ञान होता है अर्थात् केवलज्ञान होता है और कर्ममल रूपी कीचड़ दूर होकर शुद्ध ज्ञानरूपी स्थल की प्राप्ति होती है, जो सदा काल अखंड है। वे ही जीव सम्यग्दृष्टि जीव हैं; जिन्होंने स्वरूप को खोजकर मोक्षपदरूपी सुख की पिंड अवस्था प्राप्त की है।

आप अवलोकनिमैं अगम अपार महा,
चिदानंद सुख सुधा धार की वरसनी।
अचल अखंड निज आनंद अबाधित है,
जाकी ज्ञान दशा शिवपद की परसनी।

सकति अनंतकौ सुभाव दरसावै जहाँ,
अनुभौ की रीति एक सहज सुरसनी।
धनि ज्ञानवान तेई परम सकति ऐसी,
देखी है अनंत लोकालोक की दरसनी।।१०८।।

अर्थ :– चिदानंद भगवान आत्मा को देखने की महिमा अगम अपार है तथा जिसमें सदैव सुख रूपी अमृतधारा बरसती रहती है, अचल अखंड अबाधित निज आनंद ज्ञानदशा प्रगट होती है, जो मोक्षपद को प्राप्त कराती है। अनंत शक्तिरूप स्वभाव जहाँ दिखाई देता है, वहीं अनुभव की सरस धारा प्रवाहित होती है। ऐसे ज्ञानी जीव धन्य हैं, जिन्होंने इस परम शक्ति को देखकर सर्वज्ञ पद को प्राप्त किया है।

तत्त्व सरधानकरि भेद-ज्ञान भासतु हैं,
जातै परम्परा मोक्ष मूहा पाइयतु है।
तत्त्व की तरंग अभिराम आठौं जाम उठैं,
उपादेय माहिं मन सदा लाइयतु है।
चिन्तन सरूपकौ अनूप करै रुचिसेती,
ग्रन्थनिमें परतीति जाकी गाइयतु है।
परमारथ संथ वा सम्यक व्योहार नाम,
जाकौं उर जानि जानि जानि भाइयतु है।।१०९।।

अर्थ :– तत्त्व निर्णय होने पर भेदविज्ञान होता है, जिससे परम्परा मोक्ष प्राप्त होता है, जिससे आठों याम (निरन्तर) तत्त्व की लहरें ही उठती रहती हैं, ग्रहण करने योग्य जो निज स्वभाव उसी में सदा मन लगा रहता है, स्वरूप का चिंतन अनुपम रुचि उत्पन्न करता है, जिसको शास्त्रों में श्रद्धा ग्रहण करना कहा है और उसे ही निश्चय सम्यग्दर्शन व व्यवहार सम्यग्दर्शन नाम दिया है। उसे ही हृदय में जानकर ज्ञान में ज्ञान को भाना चाहिये।

आगम अनेक भेद अवगाहे रुचि सेती,
लखि कै रहसि जामैं महा-मन दीजिए।

अरथ विचारि एक उपादेय आप जानै,
पर भिन्न मानि मानि, मानिकैं तजीजिए।
जामैं जैसो तत्त्व होय जथावत जानै जाहि,
लखि परमारथकौ ज्ञान रस पीजिए।
गुनि परमारथ यों भेद भाव भाइयतु,
चिदानंद देवकौ सरूप लखि लीजिए।।११०।।

अर्थ :– भगवान आत्मा का वर्णन करते हुये कहते हैं कि आत्मा का आगम में विशेष रूप से अनेकों भेदरूप वर्णन है। जिसको जो रूप अच्छा लगता है, उसे ही देखकर उसके रहस्य को जानकर उसी में मन लगा देना चाहिये। स्वरूप को विचार कर देखे तो एक मात्र निज स्वरूप ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, अन्य रूप को भिन्न-भिन्न मानकर छोड़ देना चाहिये। जिसमें जैसा सारभूत तत्त्व हो, उसे वैसा ही जानना चाहिये और परमार्थ देखकर ज्ञानामृत का पान करना चाहिये।

सुद्ध उपयोगी देखि गुणमें मगन होय,
जाकौ नाम सुनि हीए हरख धरीजिए।
मेरौ पद मोहि मैंलखायौ जिहि संग सेती,
सोही जाकी उरि भाय भावना करीजिए।
साधरमी जन जामैं प्रापति सरूप की है,
ताकौ संग कीजै और परिहरि दीजिए।
यतिजन सेवा वह जान्यौ भेद सम्यककौ,
कहै दीप याकौं लखि सदा सुख कीजिए।।१११।।

अर्थ :– शुद्धोपयोगी ज्ञानी जीव को देखकर अथवा उनका नाम सुनकर प्रसन्न होना चाहिये तथा उनके गुणों में मग्न होना चाहिये। जिनकी संगति करने पर मुझे जो अपना पद दिखा है, वह स्वरूप मुझे सदा अच्छा लगता रहे, ऐसी भावना करना चाहिये। ज्ञानी साधर्मी जन जिन्होंने स्वरूप की प्राप्ति की है, उन्हीं की संगति करना और की छोड़ देना चाहिये। यति साधु की सेवा करने में सम्यक् का स्वरूप जानने

में आता है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि उन्हें देखकर सदाकाल सुखी होना चाहिये।

मिथ्यामती मूढ़ जे सरूपकौ न भेद जानै,
परहीकौ मानै जाकी मानि नहीं कीजिए।
महा शिव मारगकौ भेद कहूँ पावै नाहिं,
मिथ्यामग लागे ताकौ कैसैं करि धीजिए।
अनुभौ सरूप लहि आपमैं मगन ह्वै है,
तिनहीं के संग ज्ञान सुधारस पीजिए।
मिथ्यामग त्यागि एक लागिए सरूप ही मैं,
आप पद जानि आप पद कौं लखीजिए।।११२।।

अर्थ :– मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव जो स्वरूप के भेद नहीं जानता है और पर को ही निज मान कर अभिमान करता है, वह मोक्षमार्ग के भेद भी नहीं जानता है तथा मिथ्यामार्ग में ही लगा रहता है, उसे कैसे समझा सकते हैं ? इसलिए स्वरूप का अनुभव कर अपने में मगन होने वालों की संगति में ज्ञानरूपी अमृतपान करना चाहिए। मिथ्यामार्ग को त्यागकर एक मात्र निज स्वरूप की ओर ही लगना चाहिये तथा अपने पद की पहिचान कर उसे ही देखना चाहिये।

जाकौ चिद्लच्छन पिछानि परतीति करै,
ज्ञानमइ आप लखि भयौ है हितारथी।
राग दोष मोह मेटि भेंट्यौ है अखंड पद,
अनुभौ अनूप लहि भयौ निज स्वारथी।
तिहूँलोकनाथ यौं विख्यात गायौ वेदनिमैं,
तामैं थिति कीनी कीनौं समकित सारथी।
स्वरूप के स्वादी अहलादी चिदानंद ही के,
तेई सिवसाधक पुनीत परमारथी।।११३।।

अर्थ :– ज्ञानी साधक का वर्णन करते हुये कहते हैं कि जिसने अपने चिद्लक्षणरूप आत्मा को पहिचान कर श्रद्धा की है तथा अपने को ज्ञानमयी देख कर अपने हित के लिए राग द्वेष को मिटाकर अपने

अखंड पद के आश्रय से अद्‌भुत अनुभव को प्राप्त करने के लिये निजऱ्अर्थी हुआ है। ऐसे तीनों लोकों का स्वामी, जिनका वर्णन वेद-पुराण (जिनवाणी) में किया गया है, उसमें सम्यक् साधना द्वारा स्थिरता प्राप्त की है। जो अपने स्वरूप का ही रसास्वादन करते हैं तथा चिदानंद स्वरूप आत्मा में ही विलास करते हैं, वे ही यथार्थ में पवित्र मोक्षमार्ग की साधना करनेवाले हैं।

(सवैया तेईसा)

पैड़ी चढ़ै सुध चाल चलै, मुकताफल अर्थकी ओर ढरै।
कंटकलीन कमल लखै,तिहि दोष विचारिकै त्याग धरैं।
उज्जल वाणि नांहिं गुणहानि, सुहावनि रीति कौं ना विसरैं।
अक्षर मानसरोवर माहिं, कितेक विहंग किल्लोल करैं।।११४।।

अर्थ :– ज्ञानी जीव मोक्षफल की ओर ढलता हुआ शुद्धोपयोग रूपी सीढ़ियाँ चढ़ता है। कंटकमयी कमल को देखकर उसमें दोषों को विचार कर उनका त्याग कर देता है। ऐसी पवित्र वाणी जिससे किसी प्रकार के गुणों की हानि नहीं होती है, उस रीति को नहीं भूलता है। जिसप्रकार मानसरोवर झील में कितने ही पक्षी किल्लोलें करते हैं उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्ग में आनंद करते हैं।

पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है –

"केलि करे शिवमारग में, जगमाहिं जिनेश्वर के लघुनन्दन।"

(कवित्त)

करतार करता है करता अकरता है,
करता अकरता की रीति सौ रहतु है।
मूरतीक मूरतिकी उपेक्षा अमूरति है,
सदा चिनमूरति के भाव सौ सहतु है।
एक में अनेक है अनेक माहिं एक,
एक में अनेक एक है अनेकता गहतु है।
लच्छिन की लच्छि लीएँ परतच्छ छिपाइयतु,
कहूँ न छिपाइयतु जग में महतु है।।११५।।

अर्थ :– जो कर्म का कर्ता है वही उसी समय अपेक्षा से अकर्ता भी है। द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा अकर्ता तथा पर्याय की अपेक्षा से कर्ता है। सदा चैतन्य मूर्तिरूप रहता है। एक में अनेक रूप है और अनेक में एकपना पाया जाता है। लक्षणों की अपेक्षा प्रत्यक्ष होते हुए भी गुप्त है। ऐसा जगत में महान आत्मद्रव्य कहीं नहीं छिपता है।

है नाहीं है नाहिं बैनगोचर हू नाहीं यह,
है नाहीं है नाहींमाहिं तिहूँ भेद कीजिए।
स्वपर चतुष्क भेदसेती जहाँ साधियतु,
सोही नय भंगी जिनवाणी में कहीजिए।
स्यात पद सेती सात भंगकौ सरुप साधै,
परमाण भंगी सौं अभंग साधि लीजिए।
दौऊ सौं रहत सौ तौ दुरनय भंगी कही,
यहै तीन भेद सातभंगी के लखीजिए।।११६।।

अर्थ :– अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य – इसप्रकार सप्तभंगी स्व और पर चतुष्टय की अपेक्षा सिद्ध होती है। इसे ही जिनवाणी में नय सप्तभंगी कहा है। स्यात्पद से अभेद अपेक्षा सप्तभंगी को साधने पर प्रमाण सप्तभंगी सिद्ध होती है। जो इन दोनों से रहित है, वह दुर्जय सप्तभंगी कही जाती है। इसप्रकार सप्तभंगी के तीन भेद समझना चाहिए।

स्वसंवेद ज्ञान अमलान परिणाम आप,
आपनकौं दए आप आपहीसों लए हैं।
आप ही स्वरूप लाभ लह्यौ परणामनि में,
आप ही मैं आपरूप है कै थिर थाए हैं।
सासतो खिणक आप उपादन आप करै,
करता करम क्रिया आप परणए हैं।
महिमा अनंत महा आप धरै आंप ही की,
आप अविनासी सिद्धरूप आप भए हैं।।११७।।

अर्थ :– स्वसंवेदन ज्ञान रूप पवित्र परिणाम अपने में से अपने को ही अपने परिणामों में स्वरूप का लाभ भी आप स्वयं के लिए है, आप स्वयं प्राप्त करता हैं। आप स्वयं शाश्वत और स्थिर होता है। स्वरूपरूप होकर क्षणिक उपादान कारण से स्वयं कर्ता, कर्म, क्रियारूप परिणमित होता है। ऐसी अनन्त महिमा द्रव्य स्वयं अपने आप ही में धारण किये हुये हैं। अविनाशी सिद्धपदरूप भी आप स्वयं ही हैं।

मणि के मुकुट महा सिरपै विराजतु हैं,
हीए माहिं हार नाना रतन के पोए हैं।
अलंकार और अंग अंग मैं अनूप बने,
सुन्दर सरुप दुति देखैं काम गोए है।
सुरतरु कुजंनिमैं सुरसंघ साथ देखे,
आवत प्रतीति ऐसी पुन्य बीज बोए हैं।
करम के ठाठ ऐसैं कीने हैं अनेक बार,
ज्ञान विनु भए यौं अनादिहीके सोए हैं।।११८।।

अर्थ :– मणि के मुकुट सिर पर सुशोभित हैं और कंठ में अनेक रत्नों के हार पहने हैं, अलंकार (आभूषण) से अंग-अंग शोभायभान है, जिनके सुन्दर रूप को देखकर काम (विकार) हो जाता है। कल्पवृक्षों के समूह में अनेक देवताओं को साथ-साथ दिखते हैं। ऐसा लगता है जैसे अनेक पुण्यरूपी बीज का फल प्राप्त हुआ है। ऐसे कर्म के उदय में अनेक बार ठाठ-बाट हुये, परन्तु ज्ञान के बिना वे सब निष्फल हैं और अज्ञानी इन्हीं में मूर्च्छित है।

सुरपरजायनि मैं भोग भाव भए जहाँ,
सुख रंग राचौ रति कीनी परभावमैं।
रंभा हाव भावनिको निरखि निहारि देखै,
प्रेम परतीति भई रमणिरमावमैं।
देखि-देखि देवनिके पुंज आय पाँय परै,
हियमें हरष धरैं लगिनि लगावमैं।
पर परपंचनिमैं स चिकै करम भारी,
संसारी भयौ फिरै जु परके उपावमैं।।११९।।

अर्थ :– अज्ञानी बहिरात्मा देव पर्याय प्राप्तकर विषयों के भोग के भावों में मग्न होता है और उनमें सुख मानता हुआ विभाव भावों में रति करता है। अप्सराओं के हावभाव को दत्तचित होकर देख-देखकर रमणी रमणता के भाव में प्रेम प्रतीति करता है। अनेक देवों का समूह उसके पैरों पर पड़ता है जिसे देखकर प्रसन्न होता है। इसप्रकार अनेक प्रपंचो में रचपच कर बहुत करम बाँधता है और संसारी होता हुआ पर में सुख खोजता रहता है।

(छप्पय)

अजर अमर अविलिप्त, तृप्त भव भय जहँ नाहिं।
देव अनंत अपार, ज्ञान धारक जगमाहिं।
जिहीं वाइक जग सार जानि जे भवदधि तरि है।
गुर निरग्रंथ महंत, संत सेवा सब करि हैं।
देववाणी गुरु परखि यह, करि प्रतीति मनमें धरैं।
कहें दीपचन्द है वंद सो, अविनासी सुख कौ वरै।।१२०।।

अर्थ :– अजरअमरअविलिप्त स्वभाव के आश्रय से तृप्त संसार के दुःखों से निर्भय और संसार में अनन्त अपार ज्ञान के धारक ऐसे सच्चे देव को जो संसार में साररूप जान कर संसारसमुद्र से पार होते हैं और जो निर्ग्रन्थ हैं, उनकी सभी सेवा (वैय्यावृत्ति) करते हैं। इसप्रकार देवगुरुशास्त्र के स्वरूप को पहिचानकर जो मन में श्रद्धा धारण करता है वही ज्ञानी जीव अविनाशी सुख को प्राप्त होता है – ऐसा पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं।

(सवैया इकतीसा)

धरें गुणवृंद सुखकंद है सरूप मेरो,
जामैं पर फंद कौ प्रवेश नाहिं पाइए।
देव भगवान चिदानंद ज्ञानजोति लीऐं,
अचल अनंत जाकी महिमा बताइए।
परम प्रतापमैं न ताप भाव भासतु है,
अचल अखंड एक उर में लखाइए।

अनुभौ अनूप रसपान लै अमर हुजै,
सासतो सुथिर जस जुग-जुग गाइए।।१२१।।

अर्थ :– आत्म स्वरूप की महिमा का वर्णन करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि मेरी आत्मा में पर का रंच मात्र भी प्रवेश नहीं है। अनंत गुणों का समूह सुख से भरपूर ऐसा निज परमात्मा ज्ञानज्योति लिए सदा आनन्दरूप है। जिसकी महिमा अचल अनंत है, उसके परम प्रताप में संसार का दुःख भासित नहीं होता है। ऐसा अचल अखंडित स्वभाव हृदय में धारण करना चाहिये। जो निज आत्मा का अनुभव (रसास्वादन) करते हुये शाश्वत अमर पद प्राप्त करके स्थाईत्व को प्राप्त हुए हैं, उनका यश युगों तक गाया जाएगा।

चेतनाविलास जामैं आनन्दनिवास नित,
ज्ञान परकास धरें देव अविनासी है।
चिदानन्द एक तू ही सासतो निरंजन है,
महा भयभंजन है सदा सुखरासी है।
अचल अखंड शिवथान को रमैया तू है,
कहा भयो जो तो होय रह्यौ भववासी है।
सिद्ध भगवान जैसो गुणकौ निधान तू है,
निहचै निहारि निधि आप परकासी है।।१२२।।

अर्थ :– आत्मस्वभाव की महिमा का वर्णन करते हुये कहते हैं कि यह ज्ञान-दर्शन चेतना से सुशोभित सदैव आनंद रूप ही रहता है और अपनी ज्ञान कला से अविनाशी सुख धारण किये रहता है। एक शाश्वत कर्मकलंकरहित चिदानन्दरूप समस्त भय का नाश करने से सुखरूप ही रहता है। अपने अचल अखंड मोक्षस्थान में ही रमता है। सिद्ध भगवान के समान ही अनंत गुणों का खजाना है, उसे ही निश्चय से देखने पर आप स्वयं अपने में वह निधि प्रगट करता है।

रमणि रमाव माहिं रति मानि राच्यौ महा,
मायामें मगन प्रीति करैं परिवार सौं।
विषैभोग सौंज विषतुल्य सुधापान जानै,
हित न पिछाने बंध्यौ अति भवभार सौं।

एकइंद्री आदि लै असैनी परिजंत जहाँ,
तहाँ ज्ञान कहाँ रुक्यौ करम विकार सौं।
अबै देव गुरु जिनवाणी को संजोग जुर्‌यौ,
सिवपंथ साधौ करि आतमविचार सौं।।१२३।।

अर्थ :– बहिरात्मा अपने कुटुम्बीजनों से प्रेम करता हुआ धन आदि में ही मग्न रहता है और स्त्री आदि के भोगने में सुख मानकर उनमें रचन्पच जाता है। विषतुल्य इन्द्रियों के विषयभोग उन्हें अमृततुल्य मानता हुआ सेवन करता है और अपना हित जानकर कर्मबन्ध के भार से संसार में भ्रमता है। एक इन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक तो कर्म के उदय के कारण ज्ञान रुका हुआ है, परन्तु अब जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु, जिनवाणी के संयोग मिलने से मोक्षमार्ग की साधना अपने आत्मा के विचार से करना चाहिए।

परपद आपौ मानि जगमैं अनादि भ्रम्यौ,
पायौ न सरूप जो अनादि सुख थान है।
राग दोष भावनिमैं भवतिथि बाँधी महा,
बिन भेदज्ञान भूल्यों गुणकौ निधान है।
अचल अखंड ज्ञानजौतिकौ प्रकाश लीए,
घट ही मैं देव चिदानंद भगवान है।
कहै दीपचन्द आय इंदहू से पाँय परै,
अनुभौ प्रसाद पद पावै निरवान है।।१२४।।

अर्थ :– अज्ञानी जीव पर पद को आपरूप मानता हुआ अनादि से संसार में घूमता है और शाश्वत सुख का स्थान अपना पद (स्वपद) को पाता है। मिथ्यात्व सहित रागन्द्वेषरूप परिणामों से अनंत संसार का बंध करता हुआ भेदन्ज्ञान के अभाव में अनंत गुणों के खजाने स्वरूप निज आत्मा को भूला हुआ है। परन्तु जब अचल अखंड ज्ञानज्योति को जानकर अपने हृदय में ही भगवान आत्मा को देखता है, तब ऐसे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव के इन्द्र भी आकर चरण छूते हैं और वे स्वरूप अनुभव से मोक्षपद प्राप्त करते हैं।

(दोहा)

चिद्लच्छन पहचान तैं, उपजै आनंद आप।
अनुभौ सहज सरूपकौ, जामैं पुन्य न पाप।।१२५।।

अर्थ :– आत्मा को चैतन्य लक्षण से पहिचानने पर स्वतः आनन्द उत्पन्न होता है। निज सहजात्मस्वरूप का जब अनुभव होता है तो उसमें पुण्य-पाप कुछ भी नहीं होता है।

(कवित्त इकतीसा)

जगमैं अनादि यति जेते पद धारि आए,
तेऊ सब तिरे लहि अनुभौ निधानकौं।
याके बिन पाए मुनिहू सो पद निंदित है,
यह सुखसिन्धु दरसावै भगवानकौं।
नारकी हू निकसि जे ते तीर्थंकर पद पावैं,
अनुभौ प्रभाव पहुँचावै निरवानकौं।
अनुभौ अनंत गुण के धरै याहीकौं,
तिहुँलोक पूजै हित जानि गुणवानकौं।। १२६।।

अर्थ :– संसार में जितने भी साधु पद के धारक हुये हैं, वे सभी अनुभव रूपी गुणों के खजाने को प्राप्त कर संसार से पार हुये हैं। बिना अनुभव के मुनि पद भी निन्दनीय है, क्योंकि अनुभव से ही सुखस्वरूप परमात्मपद प्राप्त होता है। नारकी जीव भी अनुभव के प्रभाव से नरक से निकलकर तीर्थंकर जैसे पद को पाकर निर्वाण प्राप्त करते हैं। अनुभव ही अनंत गुणों को धारण कराता है और इसी से गुणवान त्रिलोक पूज्य बन जाता है।

पण्डित बनारसीदासजी ने भी कहा है –

(दोहा)

अनुभव रस चिन्तामणि, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष कौ, अनुभव मोक्षसरूप।।

अनुभौ अखंड रस धाराधर जग्यौ जहाँ,
तहाँ दुख दावानल रंच न रहतु है।
करमनिवास भववास घटा भानवैकौं,
परम प्रचण्ड पौन मुनिजन कहतु है।
याकौं रस पीएँ फिरि काहू की न इच्छा होय,
यह सुखदानी सब जगमैं महतु है।
आनंदकौ धाम अभिराम यह संतनकौ,
याहीके धरैया पद सासतौ लहतु है।।१२७।।

अर्थ :– अनुभव का महत्त्व बताते हुये कवि कहते हैं कि जहाँ अखण्ड धाराप्रवाह अनुभव का रस उत्पन्न हो जाता है, वहाँ दुखरूपी अग्नि का सर्वथा अभाव हो जाता है। कर्मरूपी घटा (बादल) जो संसारवास का कारण है उसे अनुभव रूपी प्रचण्ड पवन नष्ट कर देती है – ऐसा मुनिजन कहते आये हैं। अनुभव रस के पीनेवालों को फिर किसी प्रकार की इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती है। ऐसा संसार में समस्त सुख का देनेवाला अनुभव आनन्द का स्थान है और साधुओं का विश्राम स्थान है। जो इसे धारण करते हैं, वे शाश्वत पद (मोक्ष) प्राप्त करते हैं।

आतम-गवेषी संत याही के धरैया जे हैं,
आपमैं मगन करैं आन न उपासना।
विकल्प जहाँ कोऊ नहीं भासतु है,
याके रस भीने त्यागी सबै आन वासना।
चिदानंद देव के अनंत गुण जेते कहैं,
जिनकी सकति सब ताहिमाहिं भासना।
व्यय उत्पाद ध्रुव द्रव्य गुण परजाय,
महिमा अनंत एक अनुभौ विलासना।।१२८।।

अर्थ :– आत्मज्ञ संत अनुभव रस में मग्न रहते हुये अन्य की उपासना नहीं करते हैं और जहाँ किसी प्रकार का विकल्प भासित नहीं होता है, क्योंकि अनुभव रस में लीन रहने से अन्य द्रव्य की इच्छा ही छूट जाती है। आत्मद्रव्य में जितने अनंत गुण हैं, उन सब की शक्ति

अनुभव में ही भासित होती है। उत्पाद, व्यय, ध्रुव, गुण, द्रव्य, पर्याय सब की महिमा एकमात्र अनुभव में ही विलसित होती है।

(दोहा)

गुण अनंत के रस सबै, अनुभौ रसके माहिं।
यातैं अनुभौ सारिखौ, और दूसरों नाहिं।।१२६।।

अर्थ :– आत्मानुभव में अनन्त गुणों का रस समाहित है, इसलिये अनुभव के समान जगत में कोई दूसरा नहीं है। हमें आत्मानुभव करना ही योग्य है।

(सवैया इकत्तीसा)

जगतकी जेती विद्या भासी कर रेखावत,
कोटिक जुगांतर जो महातप कीने हैं।
अनुभौ अखंड रस उरमैं न आयो जो तो,
सिवपद पावै नाहिं पररस भीने हैं।
आप अवलोकनिमैं आप सुख पाइयतु,
पर उरझार होय परपद चीने है।
तातैं तिहूँलोकपूज्य अनुभौ है आत्मा कौ,
अनुभवी अनुभौ अनूप रस लीने हैं।।१३०।।

अर्थ :– जिसके हृदय में अनुभव रूपी अखंड रस नहीं आया है वह संसार की सभी विद्याओं को हस्तरेखा के समान जानता हुआ करोड़ों वर्षों तक तप करता हुआ भी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है, पर के रस में ही मग्न रहता है; क्योंकि आपको को देखने में ही अपने सुख की प्राप्ति होती है और पर को देखने पर पर की ही प्राप्ति होती है। इसलिये तीनों लोकों में पूजनीक आत्म-अनुभव है। अनुभवी अद्‌भुत अनुभव रस प्राप्त करते हैं।

(अडिल्ल)

परम धरम के धाम, जिनेश्वर जानिए।
शिवपद प्राप्ति हेतु, आप उर आनिए।।

निहचै अरु व्यौहार, जिथारथ पाइए।
स्यादवाद करि सिद्धि पंथ शिव गाइए।।१३१।।

अर्थ :– जिनेन्द्रदेव सर्वोत्कृष्ट धर्म के धनी हैं, इसलिये मोक्षपद की प्राप्ति के लिये उन्हें अपने हृदय में स्थापित करना चाहिये। स्याद्वादरूप जिनवाणी के द्वारा निश्चयव्यवहार स्वरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को प्राप्त कर मोक्षपद पाना चाहिए।

(सवैया इकतीसा)

लक्षनके लखें बिनु लक्ष्य नहीं पाइयतु,
लक्ष्य बिनु लखें कैसे लक्षण लखातु है।
यातैं लक्ष्य लक्षिन के जानिवेकौं जिनवाणी,
कीजिए अभ्यास ज्ञान परकास पातु है।
ऐसौ उपदेस लखि कीनौ है अनेक बार,
तोहू होनहार माहिं सिद्धि ठहरातु है।
निहचैं प्रमाण कीएँ उद्यम विलाय जाय,
दोऊ नै विरोध कहू किम यौं मिटातु है।।१३२।।

अर्थ :– लक्षण के देखे बिना लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती है और बिना लक्ष्य के लक्षण को कैसे जाने ? इसलिये लक्ष्य और लक्षण को जानने के लिये जिनवाणी का अभ्यास करना चाहिये, जिससे ज्ञानप्रकाश की प्राप्ति होती है। ऐसा उपदेश सुनकर अनेक बार उद्यम किया, फिर भी होनहार से ही कार्य की सिद्धि मानता है और निश्चय को मानने पर पुरुषार्थ नहीं ठहरता है। इसप्रकार दोनों नयों का विरोध कैसे मिटे ?

मानि यह निहचैकौं साधक व्यौहार कीजै,
साधक के बाधे कहुँ निहचौ न पाइए।
जद्यपि है होनहार तद्यपि है चिह्न वाकौं,
साधि जाकौ साधन यौं लक्षण लखाइए।
आए उर रुचि यह रोचक कहावै महा,
रुचि उर आएं बिनु रोचक न गाइए।

अन्तरंग उद्यम तैं आतमीक सिद्धि होत,
मन्दिर के द्वारि जैसे मंदिर मैं जाइए।।१३३।।

अर्थ :– निश्चय को यथार्थ मानकर व्यवहार में साधना करना चाहिये, परन्तु साधक व्यवहार से निश्चय की प्राप्ति नहीं होती है। यद्यपि होनहार अर्थात् क्रमबद्ध परिणमन है, परन्तु साधक की साधना के लक्षणों से उसका ज्ञान हो जाता है। अपने हृदय में रुचि उत्पन्न हुये बिना क्या होता है ? क्योंकि बिना रुचि के उत्पन्न हुये कार्य सिद्ध नहीं होता है। वास्तव में तो आत्मनिर्णय अर्थात् अंतरंग पुरुषार्थ के बिना आत्मा की सिद्धि नहीं होती है। जैसे जिनालय के प्रवेश द्वार में जाये बिना अन्दर नहीं जाया जा सकता है।

प्रकृति गए तै वह आतमीक उद्यम है,
सो तौ होनहार भए प्रकृति उठान है।
नाना गुण गुणी भेद सीख्यौ न स्वरूप पायौ,
काल ले अनादि बहु कीनों जो सयान है।
यातैं होनहार सार सारै जग जानियतु,
होनहारमांहि तातैं उद्यम विणान है।
चाहौ सोही करो सिद्धि निहचै के आए है,
निहचै प्रमाण यातैं सत्यारथ ज्ञान है।।१३४।।

अर्थ :– स्वभाव की ओर जाना ही आत्मा का सच्चा पुरुषार्थ है, वही होनहार है और वही उद्यम है। अनादि काल से गुण-गुणी के भेद भी बहुत सीखे, फिर भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं हुई, इसलिये होनहार बलवान है – ऐसा सारा जग जानता है; लेकिन होनहार में ही सारा पुरुषार्थ निहित है। चाहे जो चाहे जैसे करो, कार्य की सिद्धि तो निश्चय के आने पर ही होती है और निश्चय प्रमाण ही यथार्थज्ञान होता है।

तीरथसरूप भव्य तारण है द्वादशांग,
वाणी मिथ्या होय तौ तौ काहे जिनभासी है।
जिनवाणी जीवन कौ कीनों उपगार यह,
याकी रुचि कीएँ भव्य पावै सुखरासी है।

करत उच्छे याकौ कैसे तत्त्व पाइयतु,
मोक्षपंथ मिटै जीव रहै भववासी है।
निहचै प्रमाण तोऊ जाही ताही भाँति,
अति अनुभौ दिढ़यों गहि दीजिए अध्यासी है।।१३५।।

अर्थ :– जिनवाणी में अभ्यास की प्रेरणा देते हुए कवि कहते हैं कि जिनवाणी साक्षात् तीर्थस्वरूप है, जो भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार करती है। यदि वह वाणी मिथ्या हो तो जिनेन्द्र भगवान ने उसे क्यों कहा है ? वास्तव में तो जिनवाणी ने अनादि से भव्य जीवों का उपकार ही किया है। जिन्होंने इसकी रुचि की है, उन्हीं भव्यजीवों ने अनन्त सुख प्राप्त किया है; परन्तु जो जिनवाणी का उच्छेद करता है, वह तत्त्व को कैसे प्राप्त हो सकता है ? उसका मोक्षमार्ग नष्ट हो जाता है और वह संसार में ही रहता है। इसलिए निश्चय से प्रमाण करके जैसे बने तैसे जिनवाणी का अत्यन्त अनुभवपूर्वक दृढ़ता से अभ्यास करना चाहिये।

यह तौ अनादि ही कौ चाहत अभ्यास कियौ,
याकै नहीं सारै पावै काल की लबधितैं।
जतन के साध्यसिद्धि होती तौ अनादि ही के,
द्रव्यलिंग धारै महा अति ही सुविधि तैं।
काज नहीं सर्‌यौ तातैं कछु न बसाय याकौ,
होनहार भये काज सीझे जथाविधि तैं।
यातैं भवितव्य तौ सो काहूपै न लंघी जाय,
करि है उपाय जो तौ नाना ये विविध तैं।।१३६।।

अर्थ :– यह जीव अनादि से अभ्यास करता आया है, परन्तु काल लब्धि बिना इसका कोई भी काम नहीं सरा (पूर्ण नहीं) हुआ। अगर यत्न से साध्य की सिद्धि होती तो मुनिलिंग (द्रव्यलिंग) तो कितनी ही बार धारण किया, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई, जिसमें इसका कुछ भी बस नहीं है। बिना होनहार के हुए कार्य के अनुकूल

विधि भी नहीं मिलती है, इसलिए होनहार का किसी से उल्लंघन नहीं किया जा सकता है, चाहे हम कितने ही नानाप्रकार के विविध उपाय करें।

एक नै प्रमाण है तो काहे कौ जिनेन्द्रदेव,
कहै धनि जीवन कौ उद्यम बतावनी।
तत्त्व कौ विचारि सार वाणी ही तै पाइयतु,
वाणी के उथापे याकी दसा है अभावनी।
मोक्षपंथ साधि-साधि तिरे जिनवाणी ही तैं,
यह जिनवाणी रुचें याकी भली भावनी।
याही के उथापें भली भावनी उथापी जासैं,
यह भली भावनी सौ उद्यम तैं पावनी।।१३७।।

अर्थ :– यदि एक ही नय प्रमाण हो (अर्थात् होनहार से ही कार्य होता हो) तो जिनेन्द्रदेव ने क्यों कहा कि वे जीव धन्य हैं, जो मोक्ष का पुरुषार्थ करते हैं। साररूप तत्त्व का विचार जिनवाणी से ही पाया जाता है। जिनवाणी के प्रताप से ही मोक्षमार्ग की साधना सधती है तथा जिनवाणी के निषेध से जीव की दशा शोचनीय है। जिसे जिनवाणी रुचती है उसी जीव की भली होनहार है। इसका (जिनवाणी का) उत्थापन करने से अपनी भली होनहार का ही उत्थापन होता है और भली होनहार पुरुषार्थ से ही प्राप्त होती है।

उद्यम अनादि ही के कीएं है न और आयौ,
कहूँ न मिटायौ दुख जनम मरण कौ।
यौं तो केऊ बार जाय जाय गुरु पास जाँच्यौं,
स्वामी मेरो दुख मेटो भव के भरण कौ।
दीनी उन दीक्षा इनि लीनी भले भावकरि,
समै बिनु आए काज कैसैं है तरण कौ।
यातैं कहै विविध बनाय कै उपाय ठानैं,
बली काज जानि होनहार की ठरण कौ।।१३८।।

अर्थ :– होनहार अर्थात् क्रमबद्ध परिणमन की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस जीव ने अनादि से सुखी होने के लिए बहुत परिश्रम किये जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता, फिर भी जनमन्मरण का दुख नहीं मिटा। कितनी बार गुरु के पास जाकर याचना की – हे स्वामी ! मेरा भवभ्रमण का दुख मेट दो तथा गुरु ने दीक्षा भी दी और इसने भी मंदकषायपूर्वक धारण की; परन्तु फिर भी काललब्धि नहीं आने से संसार समुद्र से कैसे पार उतरे ? इसलिए कहते हैं कि अनेक प्रकार के उपाय करे और भली होनहार होवे तो कार्य की सिद्धि होती है।

जैसे काहू नगर मैं गये बिनु काज न ह्वै,
पंथ बिनु कैसे जाय पहुँचे नगर मैं।
तैसैं विवहार नय निहचै को साधतु है,
दीपक उद्योत वस्तु ढूँढ लीजे घर में।
साधक उच्छेद सिद्धि कोऊ न बतावतु है,
नीके मूनिहारि काहै परै जूठी हर मैं।
अनादि निधान श्रुतकेवली कहत सोही,
कीजिए प्रमाण मोखबधू होय कर मैं।।१३६।।

अर्थ :– जिसप्रकार से किसी नगर में जाये बिना काम नहीं बनता और उसका रास्ता जाने बिना नगर में नहीं पहुँचा जा सकता, उसीप्रकार व्यवहार नय निश्चय नय की साधना का कारण है। जैसे कि दीपक के प्रकाश से घर में वस्तु खोज ली जाती है। साधना का उच्छेद होने पर किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती है, उसीप्रकार भली साधना को छोड़ने से मुनि को कार्य सिद्धि नहीं होती है। वही श्रुतकेवली सदैव से कहते आये हैं कि जो भलीप्रकार साधना का प्रमाण करता है, उसी को मुक्तिवधु की प्राप्ति होती है।

मोक्षवधू ऐसैं जो तो याके करमाँहि होय,
तौ तो केवली के बैन सुने है अनादि के।

जतन अगोचर अपूरव अनादि हो कौ है,
उद्यम जे कीए जे जे भए सब वादि के।
तातै कहा साँचको उथापतु है जानतु ही,
भोरो होय बैठो बैन मेटि मरजादि के।
जो तो जिनवाणी सरधानी है तो मानि मानि,
वीतराग बैन सुखदैन यह दादि के।।१४०।।

अर्थ :– इस जीव को केवली भगवान के वचन सुनना तब ही सार्थक है कि जब इसे मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हो जाती है। अनादि काल का जो वचन अगोचर अपूर्व अंतरंग प्रयत्न इस जीव ने किया, वह सार्थक है इसलिए सच्चाई का विश्वास होते ही लोक की रीति को छोड़कर भँवरे के समान अनुभव रस का रसास्वादन करता है, तब तो जिनवाणी की सच्ची श्रद्धा है और उसी को वीतराग वाणी सुख देनेवाली है।

उद्यमके डारे कहूँ साध्य सिद्धि कहीं नाँहिं,
होनहार सार जाको उद्यम ही द्वार है।
उद्यम उदार दुखदोष को हरनहार,
उद्यम मैं सिद्धि वह उद्यम ही सार है।
उद्यम बिना न कहूँ भावी भली होनहार,
उद्यम कौ साधि भव्य गए भवपार है।
उद्यम के उद्यमी कहाए भवि जीव तातैं,
उद्यम ही कीजे कीयों चाहै जो उद्धार है।।१४१।।

अर्थ :– तत्त्वनिर्णय रूपी पुरुषार्थ की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पुरुषार्थ को छोड़ने से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती है, होनहार की सिद्धि भी पुरुषार्थ के ही द्वारा है। ऐसा पुरुषार्थ सहज ही दुःख को दूर करनेवाला है। जिस पुरुषार्थ में कार्य की सफलता है, वह पुरुषार्थ ही सार्थक है। जिन्होंने सच्चा पुरुषार्थ किया है वे ही संसारसमुद्र से पार हुये हैं और सम्यक् तत्त्वनिर्णय

करनेवाले ही भव्यजीव कहलाये हैं, इसलिए अपना उद्धार चाहते हैं तो पुरुषार्थ ही करना चाहिए।

आडंबर भारतै उद्धार कहुँ भयौ नाहीं,
कही जिनवाणीमाहिं आप रुचितारणी।
चक्री भरतेश जाके कारण अनेक पाप,
भए पै तथापि तिरयौ दसा आप धारणी।
आनकौं उथापि एक जिनमत थाप्यौं यौं,
समंत भई तीर्थंकर होसी या विचारणी।
कारण तै कारिज की सिद्धि परिणाम ही तैं,
भाषी भगवान है अनन्त सुखकारणी।।१४२।।

अर्थ :– बाह्य आडम्बर अर्थात् (बाहरी भेष) से आजतक किसी का उद्धार नहीं हुआ है । वह अपनी रुचि से ही हुआ है – ऐसा जिनवाणी में कहीा है। जैसे भरत चक्रवर्ती ने चक्ररत्न के कारण अनेक पाप कार्य किये, फिर भी अन्तरंग में आत्मतत्त्व की रुचि के कारण वे संसारसमुद्र से तिर गये। अन्य मत का निर्षध करके जिनमत की स्थापना करनेवाले आचार्य समन्तभद्र भविष्य में तीर्थंकर पद को प्राप्त करेंगे – ऐसा विचार करना चाहिये। कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है इसलिये अन्तरंग परिणामों से ही अनन्त सुख प्राप्त होता है ऐसा जिनदेव ने कहा है।

करि क्रिया कोरी कहुं जोरीसौं मुकति न ह्वै,
सहज सरूप गति ज्ञानी ही लहतु हैं।
लहि कैं एकान्त अनेकांत कौ न पायौ भेद,
तत्त्वज्ञान पाए बिनु कैसे कैं महतु हैं।
सकल उपाधि मैं समाधि जो सरूप जानै,
जग की जुगति मांहि मुनिजन कहतु हैं।
ज्ञानमई भूमि चढ़ि होई कै अकंप रहै,
साधक ह्वै सिद्ध तेई थिर ह्वै रहतु है।।१४३।।

अर्थ :– कोरी क्रिया करने से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है और ज्ञान की सहज क्रिया को पहिचानने पर ज्ञानी मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जिसने मात्र एकान्त ही ग्रहण कर रखा है, अनेकान्त के भेद नहीं जानता, बिना तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बिना कैसे महान बन सकता है ? समस्त उपाधि भावों में भी जो समाधि का स्वरूप जानता है यह संसार से मुक्ति की युक्ति है – ऐसा मुनिजनों ने कहा है। जो ज्ञान का आश्रय लेकर निशंक रहते हैं, उन्हीं को सिद्धदशा प्राप्त होकर स्थायित्व प्राप्त होता है।

अविनासी तिहुँकाल महिमा अपार जाकी,
अनादि निधन ज्ञान उदै को करतु है।
ऐसे निज आतमाकौ अनुभौ सदैव कीजे,
करम कलंक एक छिनमैं हरतु हैं।
ऐसे अभिराम जो अनन्त गुणधाम महा,
सुद्ध चिद जोतिके सुभाव कौ भरतु हैं।
अनुभौ प्रसादतैं अखंड पद देखियतु,
अनुभौ प्रसाद मोक्षबधू कौ वरतु है।।१४४।।

अर्थ :– जो अजर-अमर है, तीनों काल है महिमा अपार है जिसकी, जो सदैव ज्ञान का उदय करता रहता है – ऐसे निज आत्मा का हमें सदैव ही अनुभव करना चाहिये, जो कर्मरूपी कलंक को एक क्षण में नष्ट कर देता है। जो अनन्त गुणों का धाम शुद्ध ज्योति को प्रकाशित करता हुआ सुन्दर स्वभाव का भरण करनेवाले अनुभव के प्रभाव से ही अपने अखण्ड पद को देखता है, वह अनुभव के प्रसाद से ही मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करता है।

तिहुँकालमाहिं जे जे शिवपंथ साधतु है,
रहत उपाधि आप ज्ञानजोतिधारी है।
देखै चिनमूरतिकौं आनन्द अपार होत,
अविनासी सुधारस पीवैं अविकारी है।

चेतना विलास कौ प्रकास सो ही सार जान्यौ,
अनुभौ रसिक ह्वै सरूपकै सँभारी है।
कहै दीपचन्द चिदानन्दको लखत सदा,
ऐसे उपयोगी आपपद अनुसारी है।।१४५।।

अर्थ :– जो जीव तीनों काल मोक्षमार्ग को साधता है, उपाधि भावों से रहित ज्ञानज्योति को धारण करता है उसे ही अपने चिन्मूरति स्वभाव को देखने पर अपार आनन्द का अनुभव होता है और वही अविनाशी अविकारी अमृत रस को पीता है और जिन्होंने स्वरूप की सँभाल की है जो अनुभव रस के रसिक हैं, उन्होंने चेतना के आनन्दमय तत्त्व को जाना है। पण्डित दीपचन्दजी कहते हैं कि ऐसे सदा आनन्द रूप आत्मा को जो देखता है वह उसे उपयोगी जानकर उसी का अनुसरण करता रहता है।

अलख अखंड ज्योति ज्ञान कौ उद्योत लिएं,
प्रगट प्रकाश जाकौ कैसे ह्वै छिपाइए।
दरसन-ज्ञानधारी अविकारी आत्मा है,
ताहि अवलोकिकैं अनन्त सुख पाइए।
सिवपुरी कारण निवारण सकल दोष,
ऐसैं भाव भाएं भवसिन्धु तिरि जाइए।
चिदानन्द देव देखि वाहीमें मगन हूजै,
यातैं और भाव कोऊ ठोर न अनाईए।।१४६।।

अर्थ :– अमूर्तिक अखण्ड ज्ञानज्योति का प्रकाश लिए हुए प्रगट जगमग रूप है, जो किसी से नहीं छिपता है,ज्ञान-दर्शन गुणरूप अविकारी आत्मा है; उसे ही सदैव अनुभव करते हुए सुख प्राप्त करना चाहिए। मोक्षपुरी के कारण समस्त दोषों का निवारण करनेवाले परिणाम करने से संसारसमुद्र से तिर जाते हैं। ऐसे चिदानन्द रूपी भगवान को देखकर उसी में मग्न होना चाहिये, ऐसे भावों के अलावा अन्य भावों को नहीं करना चाहिये।

करमके बन्ध जामैं कोऊ नाहिं पाईयतु,
सदा निरफंद सुखकंदकी धरणि है।
सपरस रस गंध रूपतैं रहत सदा,
आतम अखण्ड परदेस की भरणि है।
अक्षसौं अगोचर अनन्तकाल सासती है,
अविनासी चेतना की होय न परणि है।
सकति अमूरति बखानी वीतरागदेव,
याके उर जानैं दुखदंद की हरणि है।।१४७।।

अर्थ :– आत्मा में कर्म का बंध अर्थात् कर्म की सत्ता कभी पाई ही नहीं जाती है। आत्मा सदैव निर्बन्ध और अपने सुख स्वभाव को ही धारण किये रहता है। आत्मा पुद्गल के गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से सदाकाल रहित अपने अखण्ड प्रदेशों से भरपूर है। इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता है ऐसा अनन्तकाल तक शाश्वत चैतन्य स्वभाव अविनाशी है, कभी भी पररूप नहीं होता है। ऐसी अमूर्तिक शक्ति वीतराग भगवान ने कही है। इसको हृदय में धारण करने पर समस्त दुखद्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं।

कर्म करतूतितैं अतीत है अनादिहीकी,
सहज सरूप नहीं आन भाव करै हैं।
लक्षन सरूपकी नै लक्षन लखावत है,
तौऊ भेद भाव रूप नहीं विसतरै है।
करता, कर्म, क्रिया, भेद नहीं भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरै है।
याहीके गवेषी होय ज्ञान माहिं लखि लीजे,
याही की लखनि या अनन्त सुख भरै है।।१४८।।

अर्थ :– अकर्तृत्व शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा अनादि काल से कर्म के कर्तृत्व से रहित है। सहज रूप के कारण ही अन्य-अन्य भावों को नहीं करता है। स्वरूप के लक्षण की

अपेक्षा से (नय) लक्षण ही दिखाई देते हैं, परन्तु फिर भी भेदभावरूप नहीं होता है। अकर्तृत्व अखण्ड शक्ति के कारण कर्त्ता, कर्म, क्रिया रूप भेद भी दिखाई नहीं देते हैं, इसलिए इसी के खोजी होकर ज्ञान में इसी को जानना चाहिए; इसी के जानने में अनन्त सुख भरा है।

करम संयोग भोग भाव नाहिं भासतु है,
पदके विलासकौ न लेस पाइयतु है।
सकल विभावकौ अभाव भयौ सदाकाल,
केवल सुभाव सुद्धरस भाईयतु है।
एक अविकार अति महिमा अपार जाकी,
सकति अभोकतरि महा गाइयतु है।
याहीमैं परम सुख पावन सधत नीकैं,
याहि के सरूप माहिं मन लाइयतु है।।१४६।।

अर्थ :– अभोक्तृत्व शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि करम के संयोग से संयोगी भाव आत्मा में होते हैं, परन्तु अभोक्तृत्व स्वभाव के कारण उन्हें बिलकुल नहीं भोगता है अर्थात् उनके फल से आत्मा अप्रभावित रहता है। इसलिए समस्त विभाव भावों का आत्मा में सर्वथा अभाव ही है, केवल शुद्ध भाव रूप आत्मा का भोक्ता है। ऐसा अनन्त महिमावन्त एक अविकारी पदार्थ रूप आत्मा है। इसी अभोक्तृत्व शक्ति के कारण यह आत्मा अनन्त सुख को भोगता है और सदाकाल इसी स्वरूप में मन लगाता है।

पर है निमित्त ज्ञेय ज्ञानाकार होत जहाँ,
सहज सुभाव अति अमल अकंप है।
अतुल अबाधित अखंड है सुरस जहाँ,
करम कलंकनिकी कोऊ नहीं झंप है।
अमित अनन्त तेज भासत सुभावही मैं,
चेतना कौ चिन्ह जामैं कोऊकी न चंप है।
परिनाम आतम सुसकति कहावत है,
याके रूप माहिं आन आवत न संप है।।१५०।।

अर्थ :– परिणमन शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा में पर निमित्तों के कारण ज्ञेय ज्ञानाकार होता है, परन्तु फिर भी सहज स्वभाव के कारण पवित्र और निष्कंप ही रहता है अर्थात् ज्ञेयाकार रूप परिणमते हुए भी ज्ञान ज्ञेयों से अप्रभावित ही रहता है, आत्मा का स्वरूप अतुल, अखंड, अबाधित तथा सुरस है, क्योंकि कर्मरूपी मैल का जहाँ रंचमात्र भी स्पर्श नहीं है। जहाँ अमित अनन्त तेज से स्वभाव ही भासित होता है, ऐसे चेतन लक्षणवाले आत्मा में किसी का स्पर्श नहीं है। इस परिणमन शक्ति के कारण आत्मा में अन्य का प्रवेश नहीं है।

काहू कालमाहिं पररूप होय नहिं यह,
सहज सुभावहीसौं सुथिर रहतु है।
आनकाज कारण जे सबै त्यागि दीएं जहाँ,
कोऊ परकार परभाव न चहतु है।
याही तै अकारण अकारिज सकतिही कौं,
अनादि निधन श्रुत ऐसैं ही कहतु है।
परकी अनेकता उपाधि मेटि एक रूप,
याकौ उर जानैं तेई आनन्द लहतु हैं।।१५१।।

अर्थ :– अकार्य-कारणत्व शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा अपने स्वभाव भावों का सहज रूप से कर्ता होते हुए भी किसी भी काल में पररूप नहीं होता, सदैव स्व स्वरूप में ही स्थिर रहता है। परपदार्थों का आत्मा किसी भी प्रकार कर्ता नहीं है, क्योंकि आत्मा को किसी भी पर भाव की चाह नहीं है। शास्त्रों में अनादि से ही अकार्य-कारणत्व शक्ति का वर्णन मिलता है। जो पर पदार्थों के उपाधिरूप भाव हैं, उन सबको मेटकर अपनी अकार्य कारणत्व शक्ति को ही जानता है, वही आनन्द को प्राप्त करता है।

अपने अनन्त गुण रसकौ न त्यागि करै,
परभाव नहीं धरै सहज की धारणा।

हेय उपादेय भेद कहो कहाँ पाइयतु,
वचनअगोचर मैं भेद न उचारणा।
त्याग-उपादानसून्य सकति कहावै यामैं,
महिमा अनन्त के विलासका उधारणा।
केवली उकत धुनि रहस रसिक जे हैं,
याकौं भेद जानैं करै करम निवारणा।।१५२।।

अर्थ :– त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति का वर्णन करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि भगवान आत्मा कभी भी अपने अनन्त गुणों का त्याग नहीं करता है और परभावों को ग्रहण भी नहीं करता – ऐसा सहज स्वरूप है। हेय (छोड़नेयोग्य) उपादेय (ग्रहण करने योग्य) ऐसा भेद आत्मा में नहीं है। अभेद आत्मा का कथन वचन से कहने में नहीं आता है। आत्मा में त्याग उपादान शून्य शक्ति के कारण अनन्तअनन्त सुख का सहज ही ग्रहण होता रहता है। सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये रहस्य को व उसके भेद को जो जीव जानता है, उसी के कर्मकलंक दूर होता है।

(दोहा)

गुण अनन्तके रस सबै, अनुभौ रस के माहिं।
यातैं अनुभौ सारिखौ, और दूसरों नाहिं।।१५३।।

अर्थ :– भगवान आत्मा के अनुभव करने में सभी अनन्त गुणों का रसास्वादन हो जाता है, इसलिए अनुभव के समान अन्य कोई हितकारी नहीं है।

पंच परम गुरु जे भये, जे हैंगे जग माहिं।
ते अनुभौ परसाद तैं, यामैं धोखो नाहिं।।१५४।।

अर्थ :– आज तक जितने भी पंच परमेष्ठी भगवन्त हुए हैं और जो हो रहे हैं तथा आगे भी होवेंगे वे सभी अनुभव के कारण ही हुए हैं। इसमें किसीप्रकार का धोखा नहीं है।

(सवैया इकतीसा)

ज्ञानावरणादि आठ करम अभाव जहाँ,
सकल विभाव कौ अभाव जहाँ पाइए।
औदारिक आदिक सरीर कौ अभाव जहाँ,
पर कौ अभाव जहाँ सदा ही बताइए।
याही तैं अभाव यह सकति बखानियतु,
सहज सुभावके अनन्त गुण गाइए।
याकें उर जानैं तत्त्व आतमीक पाइयतु,
लोकालोक ज्ञेय जहाँ ज्ञान मैं लखाइए।।१५५।।

अर्थ :– अभावशक्ति का वर्णन करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि इस आत्मस्वभाव में ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्मों का सर्वथा अभाव है तथा रागद्वेषादि भावकर्मों का भी अभाव ही है। साथ ही नोकर्मरूप औदारिक शरीर का भी सर्वथा अभाव ही है। – इसप्रकार आत्मस्वभाव में सदा ही परद्रव्य व परभावों का अभाव है। इसलिए आत्मा में अभाव नामक शक्ति होने के कारण स्वभावरूप अनन्त गुण सहज ही विद्यमान रहते हैं। जो ज्ञानी जीव इसको जानते हैं, वे ही निजात्म तत्त्व को प्राप्त होते हैं और समस्त लोक उनके ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं अर्थात् झलकते हैं।

दरसन ज्ञान सुख बीरज अनन्त धारी,
सत्ता अविकारी ज्योति अचल अनन्त है।
चेतना विलास परकास परदेसनिमैं,
बसत अखंड लखैं देव भगवन्त है।
याही मैं अनूप पद पदवी विराजतु हैं,
महिमा अपार याकी भाषत महंत है।
सहज लखाव सदा एक चिदरूप भाव,
सकति अनन्ती जानै बन्दै सब संत है।।१५६।।

अर्थ :– आत्मा की भाव शक्ति का वर्णन करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि इस आत्मा में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य अविकार स्वरूप ज्ञानज्योति अचल रूप से विद्यमान है। आत्मा के असंख्य प्रदेश चेतना रूप प्रकाशित अखंड रहते हुए जो देखते हैं वे ही भगवान हैं। इस आत्मा का ऐसा अनुपम स्वरूप भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा, जिसकी महिमा अपार है। सभी ज्ञानी जीवों ने सदैव ऐसी भाव शक्ति को सहज ही देखने को कहा है ऐसी चेतन रूप भाव शक्ति साधुओं से भी वंदनीय है।

परजाय भाव कौ अभाव समै समै होय,
जल की तरंग जैसैं लीन होय जल मैं।
याही परकार करै उत्पाद व्यय धरै,
भाव कौ अभाव यहै सकति अचल मैं।
सहज सरूप पद कारण बखानी महा,
वीतराग देव भेद लह्यौ निज थल मैं।
महिमा अपार या की रुचि कीए पार भव,
लहै भवि जीव सुख पावै ज्ञानकला मैं।।१५७।।

अर्थ :– जिसप्रकार पानी में तरंगें उठती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं, उसीप्रकार आत्मा में समय-समय भावरूप पर्यायें उत्पन्न होती हैं और व्यय अर्थात् अभाव को प्राप्त हो जाती हैं। इसप्रकार उत्पाद-व्यय का होना ही भाव-अभाव नाम की शक्ति है, जो सदा काल स्थायीरूप से विद्यमान है। सहज स्वरूप पद के कारण सर्वज्ञ वीतरागदेव ने भेदरूप वर्णन किया है। जिसकी महिमा अनन्त अपार है, इसकी रुचि होने पर भव्यजीव संसारसमुद्र से पार होकर सुख को प्राप्त होते हैं, यह ज्ञान की कला है।

अनागत काल परजाय भाव भए नाहिं,
तेई समैसमै होय सुखकौ करतु है।
याही ते अभाव भाव सकति बखानयितु,
अचल अखंड ज्योति भाव कौ भरतु है।

लच्छनि मैं लक्षण लखाइयतु याकौं महा,
याकै भाव अविनासी रस कौ धरतु हैं।
कहिए कहाँ लौ याकी महिमा अपार रूप,
चिद्रूप देखैं निजगुण सुधरतु हैं।।१५८।।

अर्थ :– अभावऱ्भाव शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि भविष्य में होनेवाली पर्यायों का आत्मा में अभाव है। ऐसी अभावरूप पर्यायें अपनेऱ्अपने समय में होती हैं और सुख को करती हैं, इसलिए अभावऱ्भाव शक्ति, वर्तमान में अचल अखंड ज्ञान ज्योति रूप लिए हुए ही है। लक्ष्य में लक्षणों को देखकर ही अविनाशी भावों का रसास्वादन हो सकता है, इसकी अपार महिमा का वर्णन कहाँ तक करें ? एक चित्स्वरूप आत्मा को देखने से निज गुणों का ग्रहण हो सकता है।

परकौ अभाव जो अतीत काल हो आयौं,
अनागत काल मैं हू देखिए अभाव है।
भाव नहीं जहाँ ताकौ कहिए अभाव तहाँ,
ताहि कौ अभाव तातैं कीजे यौ लखाव है।
अभाव अभाव यातैं सकति बखानियतु,
चिनानंद देव जाकौ सांचो दरसाव है।
याही कै लखैया लक्ष्य लक्षण को जानतु है,
याके परसाद अविनासी भाव भाव हैं।।१५९।।

अर्थ :– अभावऱ्अभाव शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस आत्मा में भूतकाल में भी परद्रव्य का अभाव था और भविष्य काल में भी अभाव रहेगा। जहाँ जिसका सद्भाव नहीं उसका वहाँ अभाव है और आगे भी अभाव रहेगा – ऐसा देखना ही अभावऱ्अभाव शक्ति कहलाती है। ऐसे चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्मा को देखना ही सच्चा दर्शन है। इसी को देखनेवाले सच्चे लक्ष्यऱ्लक्षण को जानते हैं तथा इसी के प्रभाव से भाव का अविनाशी सद्भाव है।

काल जो अतीत जामैं जोई भाव है तो जहाँ,
सोही भाव भावमाहिं सदाकाल देखिए।
यातैं भाव भाव यहै सकति सरूप की है,
महिमा अपार महा अतुल विसेखिए।
चिद् सत्ता भाव कौ लखाव सौ है दरब मैं,
वह भाव गुणनि मैं सहज ही पेखिए।
यातैं भाव भावकौ सुभाव पावै तेई धन्य,
चिदानंद देव के लखैया जेई लेखिए।।१६०।।

अर्थ :– भूतकाल में जिसमें जो भाव था, वही भाव उस द्रव्य सदाकाल देखना चाहिए, इसलिए भावभाव शक्ति की महिमा अपार है। जो चिद्रूप सत्ता का भाव द्रव्य में है, वही उस द्रव्य के समस्त गुणों में व्याप्त रहता है। इसलिए जो जीव भावभाव शक्ति को पहचानते हैं, वे धन्य हैं और ऐसे चिदानन्द स्वरूप आत्मा को ही वे जानते देखते रहते हैं।

स्वयं सिद्ध करता है निज परिणामनि कों,
ज्ञान भाव करता स्वभाव ही मैं कह्यौ है।
सहज स्वभाव आप करै करतार यातैं,
करता सकति सुख जिनदेव लह्यौ है।
निहचै विचारिए सरूप ऐसौ आप ही कौ,
याकैं बिनु जानै भवजाल माहिं बह्यौ है।
करता अनन्त गुण परिणामकेरो होय,
ज्ञानी ज्ञान माहिं लखि थिर होय रह्यौ है।।१६१।।

अर्थ :– यह आत्मा स्वयं अपने परिणामों का कर्ता अनादि से ही है। ज्ञान भावों का कर्ता ज्ञानी है जो कि उसका अनादि का स्वभाव है। आप स्वयं अपने स्वभाव भावों का कर्ता है, इसलिए कर्तृत्वशक्ति का सुख भी भगवान आत्मा ही प्राप्त करता है। निश्चय से विचारने पर ऐसा ही स्वरूप भासित होता है और इसे नहीं जानने पर संसारसमुद्र में बहता है। यह जीव अपने अनन्त गुणों के

परिणमनों का ही कर्ता है – ऐसा ज्ञान में देखने पर स्थिरता प्राप्त होती है।

आतम सुभाव करै करम कहावै सोही,
सुखकौ निधान परमाण पाईयतु है।
लक्षण सुभाव गुण पोखत पदारथकौं,
ग्रन्थ ग्रन्थमाहिं जस जाकौ गाइयतु है।
करम सकति काज आतम सुधारतु हैं,
चिदानन्द चिह्न महा यों बताइयतु हैं।
लक्षनतैं लक्ष्य सिद्धि कही जिनआगम मैं,
यातैं भाव भावनाकौं भाव भाईयतु हैं।।१६२।।

अर्थ :– आत्मा अपने स्वभाव भावों को करता है, वही उसका कर्म है जो कि अनन्त सुख के खजाने प्रमाण है। प्रत्येक शास्त्र में ऐसा वर्णन है कि पदार्थ (वस्तु) को उसके लक्षण गुणों से ही स्वभाव पोषण होता है अर्थात् वस्तु के गुणों का परिणमन ही उसका कर्म है ऐसी कर्म शक्ति आत्मा ने अनादि से धारण की है, जिसका चिदानन्द चैतन्य चिन्ह बताया है। आगम में कहा है कि लक्षणों से लक्ष्य की सिद्धि होती है, इसलिए आत्मा के निज परिणामों को ही भाना चाहिए; यही उसका कर्म (कार्य) है अन्य नहीं।

आप परिणामकरि आप पद साधतु है,
साधन सरूप सो ही करण बखानिए।
आप भाव भए आप भव ही की सिद्धि होत,
और भाव भए भावसिद्धि नहीं मानिए।
कारण सकति करै एकमैं अनेक सिद्धि,
एक है अनेकमाहिं नीकैं उर आनिए।
निहचै अभेद किए भेद नहीं भासतु है,
ज्ञान के सुभाव करि ताकौ रूप जानिए।।१६३।।

अर्थ :– आत्मा के अपने निज परिणामों से स्वयं की सिद्धि होती है अर्थात् साध्य और साधन स्वयं आत्मा ही है। अपने भावों से

अपने ही भाव की सिद्धि होती है, अन्य के भावों से आत्मा की सिद्धि नहीं होती है। करण शक्ति (साधन) से कार्य की सिद्धि होती है। एक कार्य में अनेक कारण होते हैं और अनेक एक में गर्भित है। निश्चय से विचार किया जाये तो अभेद आत्मा में अनुभव के समय भेद नहीं मालूम पड़ता है, परन्तु ज्ञान स्वभाव के द्वारा सबको जाना जा सकता है।

आपने सुभाव आप आपनकौ दए आप,
आप लै अखंड रसधारा बरसावै है।
सम्प्रदान सकति अनन्त सुखदायक है,
चिदानंद देव के प्रभावकौं बढ़ावै है।
याही मैं अनंत भेद नानावत भासतु हैं,
अनुभौ सुरसस्वाद सहज दिखावै है।
पावत सकति ऐसी पावन परम होय,
सारौ जग जस जाकौ जगि-जगि गावै है।।१६४।।

अर्थ :– आत्मा की सम्प्रदान शक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि अपने निज स्वभाव का फल अपने लिए स्वयं को ही देती है। अखंड-आनन्द रस की धारा आत्मा स्वयं के लिए स्वयं को ही देती है। ऐसी सम्प्रदान शक्ति अनन्त सुख को देनेवाली है और चिदानन्द आत्मा की महिमा बढ़ानेवाली है। इस सम्प्रदान शक्ति में अनेक भेद भासित होते हैं, परन्तु अनुभवरूपी मीठा स्वाद सहज ही सम्प्रदान शक्ति के कारण दिखाई देता है। ऐसी पवित्र शक्ति से आत्मा पवित्र होता है। ऐसी महिमा का वर्णन सारे संसार में ज्ञानी जीव जागृत विवेक से दिन-रात करते रहते हैं।

आपनौ अखंड पद सहज सुथिर महा,
करै आप आपहीतै यहै अपादान है।
सासतौ खिणक उपादान करै आपही तैं,
आप है अनंत अविनासी सुखथान है।

याही तैं अनूप चिद्रूप रूप पाइयतु,
यातैं सब सकति में परम प्रधान है।
अचल अमल जोति भाव कौ उद्योत लीएं,
जानै सो ही जान सदागुण कौ निधान है।।१६५।।

अर्थ :– भगवान आत्मा की अपादान शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा अपने अखंड पद को स्थिर रूप अपने से ही किए हुए है, यही अपादान है। शाश्वतक्षणिक उपादान के कारण अपने आपसे ही आत्मा का अनंत अविनाशी सुख स्वभाव स्वयं के लिए ही है। इस कारण से आत्मा अद्भुत चिदानंद रूप सदाकाल रहता है, अतः सब शक्तियों में यह प्रमुख शक्ति है। इसी के कारण आत्मा सदाकाल स्थिर पवित्र ज्ञान ज्योति रूप भाव को धारण किए हुए है। ऐसा ज्ञान सदैव सुखदायक तथा अनंत गुणों के खजाने रूप है।

किरिया करम सब संप्रदान आदिक कौ,
परम आधार अधिकरण कहीजिए।
दरसन ज्ञान आदि बीरज अनंत गुण,
वाही के आधार यातैं वामैं थिर हूजिए।
याही की महतताई गाई सब ग्रन्थनि मैं,
सदा उपादेय सुद्ध आतम गहीजिए।
सकति अनंत कौ आधार एक जानियतु,
याही तैं अनंत सुख सासतौ लहीजिए।।१६६।।

अर्थ :– आत्मा की अधिकरण शक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि इस आत्मा के कर्ता, कर्म, क्रिया, सम्प्रदान, अपादान आदि सभी अधिकरण शक्ति के आधार से ही होते हैं। अर्थात् दर्शन-ज्ञान-वीर्य आदि अनंत गुणें का आधार स्वयं आत्मा की अधिकरण शक्ति ही है। इसकी महिमा का वर्णन सभी ग्रन्थों में किया गया है, इसलिए हमें एकमात्र शुद्धात्मा ही सदा उपादेय है। ऐसा जो अनन्त शक्तियों के आधार को जानते हैं, वे अनन्त सुख को सदा प्राप्त होते हैं।

पर कौ दरब खेत काल भाव चारयौ यह,
सदाकाल जामैं पर सत्ता कौ अभाव है।
याही तैं अतत्त्व महा सकति बखानियतु,
अपनी चतुक सत्ता ताकौ दरसाव है।
आनकों अभाव भएं सहज सुभाव है है,
जिनराज देवजीको वचन कहाव है।
याकै उर जानैंतैं अनंत सुख पाइयतु,
एकं अविनासी आप रूप कौ लखाव है।।१६७।।

अर्थ :– आत्मा की अतत्त्व शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा अपने स्व चतुष्टय से अपनी सत्तारूप रहता है, जिसमें पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का सर्वथा अभाव है – ऐसी अतत्त्व महाशक्ति शास्त्रों में कही है। ऐसे सहज स्वभाव में अन्य द्रव्य का सर्वथा अभाव है – ऐसा जिनदेव ने कहा है। ऐसी शक्ति अपने हृदय में जानने से अनंत सुख प्राप्त होता है और एकमात्र अपने अविनाशी स्वरूप को ही देखता है।

आतम सरूप जाकै कहै हैं अनंत गुण,
चिदानंद परिणति कही परजाय है।
दोऊ माहिं व्यापि कै सदैव रहै एक रूप,
एकत्व शक्ति ज्ञानी ज्ञानमैं लखाय है।
सुख कौ समुद्र अभिराम आप दरसावै,
जाकै उर देखै सब दुविधा मिटाय है।
सहज सुरस कौ विलास यामैं पाइयतु,
सदा सब संत जन जाकै गुण गाय है।।१६८।।

अर्थ :– आत्मा की एकत्व शक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि इस आत्मस्वरूप में अनंत गुण और उनकी पर्यायें चिदानन्दरूप परिणमित होती हैं। आत्मा गुण और पर्याय दोनों व्याप कर भी एक रहता है – ऐसी एकत्व शक्ति ज्ञानियों को ज्ञान में भासित होती है। जो ज्ञानीजन इसे जानते हैं, उन्हें सुखसमुद्र सुन्दर दिखाई देता है

और उनके हृदय की समस्त दुविधायें मिट जाती हैं। सहज आत्मरस में मग्न होता है – ऐसा ज्ञानीजनों ने वर्णन किया है।

एक द्रव्य व्यापिकै अनेक गुण परजाय,
अनेकत्व सकति अनंत सुखदानी है।
लक्षण अनेक के विलास जे अनंते महा,
करि है सदैव याही अति अधिकानी है।
प्रगट प्रभाव गुण गुण के अनंते करै,
ऐसी प्रभुताई जाकी प्रगट बखानी है।
महिमा अनंत ताकी प्रगट प्रकाश रूप,
परम अनूप याकी जगमैं कहानी है।।१६६।।

अर्थ :– एक आत्मद्रव्य में व्याप्यरूप से अनंत गुण और उनकी अनंत पर्यायें हैं – ऐसी अनेकत्व शक्ति अनंत सुख देनेवाली है। आत्मद्रव्य में विद्यमान शक्ति अनंत गुण और उनकी अनंत पर्यायें भिन्न-भिन्न लक्षणों सहित अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। अनंत गुणों का पृथक्-पृथक् प्रभाव और कार्य है ऐसा प्रत्यक्ष प्रगट भासित होता है। इसकी परम अद्भुत महिमा अनंत प्रगट प्रकाशरूप संसार में ही है अर्थात् ऐसी आत्मतत्त्व की विशेषता है।

देखत सरूपकै अनंत सुख आतमीक,
अनुपम ह्वै है जाकी महिमा अपार है।
अलख अखंड ज्योति अचल अबाधित है,
अमल अरूपी एक महा अविकार है।
सकति अनंत गुण धरै है अनंते जेते,
एक मैं अनेक रूप फुरै निरधार है।
चेतना झलक भेद धारैं हूं अभेद रूप,
ज्ञायक सकति जानै जाकौ विसतार है।।१७०।।

अर्थ :– आत्मा की अनंत शक्तियों का वर्णन करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि इस आत्मा के स्वरूप को देखते ही अनंत आत्मीक सुख होता है, जिसकी महिमा अपार है। यह आत्मा इन्द्रियों

से नहीं देखा जा सकता है, अचल अबाधित अखंड यह आत्मा ज्योतिस्वरूप परम पवित्र अरूपी अविकारी है। ऐसे अनंत गुणों एवं अनंत शक्तियों को धारण करने के कारण से एक आत्मा में अनेक भेदरूप गुण विद्यमान हैं, जो कि एक दूसरे से आश्रित नहीं हैं। एक चेतनत्व गुण को जानने पर उसमें भेद होने पर भी एक अभेद अनंत गुणस्वरूप ज्ञायक शक्ति है और अनंत गुण उसी का विस्तार हैं।

स्वसंवेद ज्ञान उपयोग मैं अनंत सुख,
अतिन्द्री अनुपम है आपका लखावना।
भव कै विकार भार कोऊ नहीं पाइयतु,
चेतना अनंत चिह्न एक दरसावना।
ऐसी अविकारता सरूप ही मैं सासती है,
सदा लखि लीजे तातैं सिद्ध पद पावना।
आतमीक ज्ञानमाहिं अनुभौ विलास महा,
यह परमारथ सरूप का बतावना।।१७१।।

अर्थ :– जब यह आत्मा अपने स्वरूप को देखता है तब स्व संवेदन ज्ञान-उपयोग में अतीन्द्रिय सुख अनुपम रूप से भासित होता है। फिर इस आत्मा को संसार में घुमानेवाले विकारी भाव नहीं दिखते हैं, एकमात्र चेतना चिह्न ही भासित होता है। ऐसा अविकारपना एकमात्र स्वरूप में ही शाश्वतरूप से है, जिसे सदैव देखते रहना चाहिए और परम उत्कृष्ट सिद्धपद प्राप्त करना चाहिए। ऐसे आत्मीक ज्ञान में अनुभव का महा-आनंद होता है। ऐसा ही यथार्थ स्वरूप शास्त्रों में बताया है।

ज्ञान गुण जानै जहाँ दरसन देखतु है,
चारित सुथिर है सरूप मैं रहतु है।
बीरज अखंड वस्तु ताकौ निहपन्न करै,
परम प्रभाव गुण प्रभुता गहतु है।
चेतना अनंत व्यापि एक चिदरूप रहै,
यह है विभूत ज्ञाता ज्ञान में लहतु है।

महिमा अपार अविकार है अनादिही की,
आपहीमैं जानैं जेई जग मैं महतु है।।१७२।।

अर्थ :– आत्मा में ज्ञानगुण का जाननेरूप दर्शनगुण का देखने रूप तथा चारित्रगुण का स्थिर रहनेरूप कार्य होता है। वीर्यगुण अपने प्रभाव से वस्तु में अखंडित रूप से कार्य निष्पादन करनेरूप प्रभुता को लिए रहता है। समस्त आत्मद्रव्य में एक चेतना अनंतरूप व्याप्त होते हुए सदाकाल चिद्स्वरूप एक रूप ही रहती है। आत्मा के इस सारे वैभव को ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान से जानता है, जिसकी अनादि से अपरम्पार महिमा है और जो अविकारी ही है। जो इसे अपने में देखता है, वही संसार में महान है।

सहज अनूप जोति परम अनूपी महा,
तिहूँ-लोक भूप चिदानंद दशा दरसी।
एक सुद्ध निहचै अखंड परमात्मा है,
अनुभौ विलास भयौ ज्ञान धारा बरसी।
आपनौ सरूप पद पाएंहीतैं पाई यह,
चेतना अनंत चिन्ह सुधारस सरसी।
अतुल सुभाव सुख लह्यौ आप आपहीमैं,
याही ते अचल ब्रह्म पदवीकों परसी।।१७३।।

अर्थ :– शद्धात्मा की भावना की प्रेरणा देते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि यह भगवान आत्मा सहज अद्भुत ज्ञानज्योतिरूप स्वयं की दशा को देखने पर सबसे उत्कृष्ट तीन लोक का स्वामी है। शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्ध अखंड परमात्मस्वरूप है। निरन्तर ज्ञानधारा बहते रहने से अनुभवरस के आनन्द में मग्न रहता है। अपने स्वरूप के प्राप्त होने पर अपने में अनंत चेतना चिह्नरूप अमृतरसरूप स्वभाव के अनंत सुख को देखता है, जिसके कारण यह सदैव ब्रह्म पदवी को प्राप्त रहता है।

अरुझि अनादि न सरूप की सँभार करि,
पर पद माहिं रागी भए पग पग मैं।

चहुँगति माहिं चिर दुखपरिपाटी सही,
सुखकौं न लेश लहयों भ्रम्यों अति जग मैं।
गुरु उपदेश पाय आतम सुभाव लैहैं,
सुद्ध दिष्टि देहै सदा साँचे ज्ञान-नग मैं।
महिमा अपार सार आपनौं सरूप जान्यौं,
तेई शिव साधक है लागे मोक्षमग मैं।।१७४।।

अर्थ :– आत्मसाधना की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि इस जीव ने अनादि काल से अपने स्वरूप की अरुचि के कारण सँभाल नहीं की और पर पदार्थ तथा पर भाव में ही निरन्तर रागी होता रहा, जिसके कारण चारों गति में दुख ही सहता रहा तथा रंचमात्र भी सुख न पा सका। श्री सद्गुरु के उपदेश को प्राप्तकर आतमस्वभाव को जानकर सम्यग्दृष्टि होकर सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है। जो जीव इस आत्मस्वभाव की महिमा साररूप तथा अपार जानकर अपने स्वरूप को जानता है, वही मोक्षमार्ग का साधक है अर्थात् मोक्षमार्ग में लगता है।

ज्ञानमई मूरतिमैं ज्ञानी ही सुथिर रहै,
करै नहीं फिरि कहूँ आनकी उपासना।
चिदानंद चेतन चिमतकार चिन्ह जाकौ,
ताकौ उर जान्यौं मेटि भरम की वासना।
अनुभौ उल्हास मैं अनंत रस पायौ महा,
सहज समाधि मैं सरूप परकासना।
बोध नाव बैठि भव-सागर कौ पार होत,
शिव कौ पहुँच करै सुख की विलासना।।१७५।।

अर्थ :– ज्ञानी जब ज्ञानमयी मूर्ति में ही लीन होता है, तब फिर अन्य किसी की उपासना नहीं करता है, सदा चैतन्य चमत्कार लक्षण को आत्मा हृदय में धारण करने पर भ्रम का विकार नष्ट हो जाता है। अपने अनुभव के आनंद में अनंत रस प्राप्तकर अपने स्वरूप में स्थिर रहने रूप समाधि में स्वरूप ही भासित होता है। ज्ञानरूपी नाव

में बैठकर संसार समुद्र से पार होता है और मोक्ष में पहुँचकर सदैव सुखसागर में मग्न रहता है।

ब्रह्मचारी गृही मुनि क्षुल्लक न रूप ताकौ,
क्षत्री वैश्य ब्राह्मण न सूदर सरूप है।
देव नर नारक न तिरजग रूप जाकौं,
वाकै रूपमाहिं नाहिं कोऊ दोर धूप है।
रूप रस गंध फाँस इनतैं वो रहै न्यारौ,
अचल अखंड एक तिहूँलोकभूप है।
चेतना निधान ज्ञानज्योति है सरूप महा,
अविनासी आप सदा परम अनूप है।।१७६।।

अर्थ :– आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि यह आत्मा देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यञ्चरूप नहीं है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्ररूप भी नहीं है; यहाँ तक कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, मुनि, क्षुल्लकरूप भी नहीं है। उसके स्वरूप में कोई दौड़-धूप ही नहीं है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से भी आत्मा सदाकाल भिन्न है। भगवान आत्मा तो तीनों काल अचल अखंड तीनों लोकों का राजा है। चेतना निधान ज्ञानज्योति रूप कभी नाश को प्राप्त नहीं होनेवाला परम अद्भुत स्वरूपमय आत्मा त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक परम तत्त्व है।

विधि न निषेध भेद कोउ नहीं पाइयतु,
वेद न वरण लोकरीति न बताइए।
धारणा न ध्यान कहूँ व्यवहारीज्ञान कह्यौ,
विकलप नाहीं कोउ साधन न गाइए।
पुण्य पाप ताप तेउ तहाँ नहीं भासतु है,
चिदानन्द रूप की सुरीति ठहराइए।
ऐसी सुद्धसत्ताकी समाधिभूमि कही जामें,
सहज सुभाव कौ अनन्त सुख पाइए।।१७७।।

अर्थ :– भगवान आत्मा में विधि तथा निषेधरूप भेद भी नहीं है, उसके स्वरूप तीनवेद और चार वर्ण नहीं है तथा कोई लोक व्यवहार भी नहीं है। धारणा और ध्यान तथा व्यावहारिक ज्ञान विकल्प साधन भी नहीं है। यहाँ तक कि पुण्य-पाप का दुख भी आत्मा में भासित नहीं होता है। वह तो सदाकाल आनन्दरूप रहनेवाला है। जहाँ सहजात्म स्वरूप शुद्ध सत्ता की भूमि है, (साधक दशा) वहीं आत्मा निवास करता है।

विषे सुख भोग नाहीं रोग न विजोग जहाँ,
सोगको समाज जहाँ कहिये न रंच है।
क्रोध मान, माया लोभ कोऊ नहीं कहे जहाँ,
दान शील तपको न दीसें परपंच है।
करम कलेस लेस लख्यों नहीं परै जहाँ,
महा भवदुख जहाँ नहीं आगि अंच है।
अचल अकंप अति अमित अनंत तेज,
सहज सरूप सुद्ध सत्ताही कौ संच है।।१७८।।

अर्थ :– भगवान आत्मा में विषयों के सुख भोग भी नहीं है बीमारी और वियोग भी नहीं है, दुख का समूह भी जहाँ रंचमात्र भी नहीं है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप (विभाव) कषाय भी जहाँ नहीं है तथा दया, दान, व्रत, शील, तप सम्बन्धी शुभभावरूपी प्रपंच भी जहाँ दिखाई नहीं देते हैं। जहाँ कर्म सम्बन्धी दुःख भी नहीं देखा जाता है, संसार दुःख भी जहाँ नहीं है। ऐसा सहज स्वभावरूप आत्मा अचल, अकंप, बहुत अधिक तेज स्वरूप शुद्ध सत्तारूप ही सदाकाल है।

थापन न थापना उथापना न दीसतु है,
राग द्वेष दोऊ नहीं पाप पुन्य अंश है।
जोग न जुगति जहाँ भुगति न भावना है,
आवना न जावना न करमकौ वंश है।
नहीं हार जीत जहाँ कोऊ विपरीत नाहिं,
सुभ न अशुभ नहीं निन्दा परसंस है।

स्वसंवेदज्ञान मैं न आन कोऊ भासत है,
ऐसौ बनि रह्यौ एक चिदानन्द हंस है।।१७६।।

अर्थ :– भगवान आत्मा में न स्थापना और न उत्थापना दिखती है, यहाँ तक कि राग-द्वेष व पुण्य-पाप का भी अंश नहीं है। कोई योग युक्ति तथा भुक्ति व भावना भी नहीं है। कर्म की सत्ता न होने के कारण कहीं आना-जाना भी नहीं है। किसी प्रकार की हार-जीत व कोई विपरीतपना भी नहीं है। कोई शुभ-अशुभ तथा निन्दा-प्रशंसा भी नहीं है। ऐसा स्वसंवेदनरूप ज्ञान में एकमात्र चैतन्य चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्य हंस भासित होता है।

करण करावण को भेद न बताईयतु,
नानावत भेष नहीं नहीं परदेश है।
अधौ मध्य उरध विसेख नहीं पाईयतु,
कोऊ विकलपकेरो नहीं परवेस है।
भोजन न वास जहाँ नहीं बनवास तहाँ,
भोग न उदास जहाँ भव कौ न लेस है।
स्व संवेद ज्ञान मैं अखंड एक भासतु है,
देव चिदानन्द सदा जग मैं महेस है।।१८०।।

अर्थ :– भगवान आत्मा में करने-कराने का भेद भी नहीं है तथा अनेक प्रकार की वेशभूषा व देश-परदेश कुछ भी नहीं है। इसमें अधो-मध्य-ऊर्ध्वरूप भी विशेष नहीं पाया जाता है तथा विकल्प का भी प्रवेश नहीं है। भोजन, निवास, वनवास, भोग, उदास (वैराग्य) आदि कुछ भी नहीं है। स्वसंवेदनज्ञान में एक चिदानन्द स्वरूप महा-ईश भासित होता है।

देवन के भोग कहूँ दीसै नहीं नारकमैं,
सुरलोक माहिं नहीं नारक की वेदना।
अंधकारमाहिं कहूँ पाइए उद्योत नाहिं,
परम अणूके माहिं भासतु न वेदना।

आतमीक ज्ञान मैं न पाईए अज्ञान कहूँ,
वीतराग भाव मैं सरागकी निषेधना।
अनुभौ विलास मैं अनंत सुख पाइयतु,
भवके विकारता की भई है उछेदना।।१८१।।

अर्थ :– जिसप्रकार नरक में देवों के भोग और देवलोक में नरक की वेदना दिखाई नहीं देती है, अंधकार में प्रकाश नहीं पाया जाता है, पुद्गल के परमाणु को वेदना भासित नहीं होती है; उसीप्रकार आत्मिकज्ञान में अज्ञान कहीं नहीं पाया जाता है तथा वीतराग भावों में सराग भावों का निषेध है। ऐसे आत्मा के अनुभव में अनंत सुख पाया जाता है तथा उसमें संसरण (परिभ्रमण) का उच्छेद ही है।

आग तैं पतंग यह जल सेती जलचर,
जटा के बढ़ायें सिद्धि है तो बट धरें हैं।
मुंडन तैं उरणिये नगन रहैतै पशु,
कष्ट कौ सहै तै तरु कहूँ नाहिं तरैं हैं।
पठन तैं शुक्र वक ध्यान के किएं तै कहूँ,
सीझे नाहिं सुनै यातै भवदुख भरै हैं।
अचल अबाधित अनुपम अखंड महा,
आतमीक ज्ञान के लखैया सुख करै हैं।।१८२।।

अर्थ :– जिसप्रकार अग्नि से पतंगे का, जल से जलचर जीवों का, जटा (दाड़ी मूँछ) के बढ़ाने से साधुओं का, मुंडन से भेड़ों का, नग्न रहने से पशुओं का, कष्ट सहने से वृक्षों का, पढ़ने से तोते का, ध्यान से बगुले का उद्धार नहीं होता; उलटे कष्ट ही पाते हैं। उसीप्रकार जीव आत्मज्ञान के बिना दुख ही पाते हैं। इसलिए आत्मज्ञान से आत्मा को अचल अबाधित अद्भुत अखंड रूप से देखनेवाले ज्ञानी ही सच्चे सुख को प्राप्त होते हैं।

तीनसौं तियालीस राजू खेलत अनादि आयौ,
अरुझि अविद्या माहिं महा रति मानि है।

अपने कल्याण कौं न अंगीकार करै कहूँ,
तत्त्व सौं विमुख जगरीति सांची जानी है।
इन्द्रजालवत् भोग वंचि के विलाय जाय,
तिनहींकी चाहि करै ऐसौ मूढ़ प्राणी है।
ऐसी पर बुद्धि सब छिन ही मैं छूटत है,
आप पद जानै जौ तो होय निज ज्ञानी है।।१८३।।

अर्थ :– अनादिकाल से यह जीव तीन सौ तेतालीस राजु प्रमाण सम्पूर्ण लोकाकाश में भ्रमण करता आया है और खोटी विद्या में (कुज्ञान) उलझकर ही सुख माना है। अपने कल्याण की बात को स्वीकार नहीं करता हुआ तत्त्व से विमुख संसार की रीति को ही सच्ची मानता है। जबकि भोग तो इन्द्रजाल की तरह ठगकर नष्ट हो जाते हैं। यह अज्ञानी प्राणी उन्हीं को चाहता है; परन्तु जब यह जीव अपने स्वरूप को जानता हुआ आत्मज्ञानी होता है, तब ऐसी परबुद्धि एक क्षण में छूट जाती है। जैसा कि कहा है –

'क्षण भर निज रस को पी चेतन, मिथ्या मल को धो देता है।
काषायिक भाव विनष्ट किये, निज आनन्द अमृत पीता है।।

तिहुँलोक चालैं जातैं ऐसौ वज्रपात परैं,
जगतके प्राणी सब क्रिया तजि देतु है।
समकिती जीव महा साहस करत यह,
ज्ञान में अखंड आप रूप गहिं लेतु है।
सहज सरूप लखि निर्भय अलख होय,
अनुभौ विलास भयौ समता समेतु है।
महिमा अपार जाकी कहिहै कहाँ लौ कोय,
चेतन चिमतकार ताहीमैं सचेतु है।।१८४।।

अर्थ :– सम्यग्दृष्टि की दृढ़ता का वर्णन करते हुए बताते हैं कि जिसप्रकार प्रचंड वज्रपात होने पर तीनों लोक चलायमान हो जाते हैं और जगत के सभी प्राणी अपनी-अपनी क्रिया छोड़ देते हैं,

लेकिन ऐसे समय भी, सम्यग्दृष्टि जीव दृढ़ता के साथ अपने ज्ञान में अपने अखंड स्वरूप को ग्रहण करता हुआ सहज स्वरूप को देखता हुआ निर्भय होता है और अनुभव के रस में मग्न रहता हुआ समभाव बनाये रहता है। जिसकी महिमा अपरम्पार है उसे कोई कहाँ तक कह सकता है ? वह तो चेतन-चमत्कारी सावधान रहता है।

कमलिनी पत्र जैसे जलसेती बन्ध्यौ रहै,
याकी यह रीति देखि नय व्यवहार मैं।
जल कौ न छीवै वह जलसौं रहत न्यारौ,
सहज सुभाव जाकौ निहचै विचार मैं।
तैसैं यह आत्मा बन्ध्यौं है परफंदसेती,
आपणी ही भूलि आपौ मान्यौ अरुझार मैं।
पाएँ परमारथ के परसौं न पग्यौ कहूँ,
आपनौ अनंत सुख करै समैसार मैं।।१८५।।

अर्थ :– जिसप्रकार कमलिनी का पत्र जल को छूता है – ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है, परन्तु निश्चय से उसके स्वरूप को विचारकर देखा जाये तो उसने जल को छुआ भी नहीं है। उसीप्रकार यह आत्मा अपनी भूल से पर में अपनापन मानकर परद्रव्यों से बँधा हुआ है; परन्तु यथार्थ से विचार करने पर उसने परद्रव्य व परभाव को छुआ ही नहीं है। ऐसा मानने पर वह ज्ञानी अनंत सुख स्वरूप आत्मतत्त्व को प्राप्त होता है।

पदमनीपत्र सदा पयही मैं पग्यौ रहै,
सब जन जानै वाकै पयकौ परस है।
अपने सुभाव कहुँ पयकौ न परसै है,
सहज सकति लीए सदा अपरस है।
तैसैं परभाव यह परसि मलीन भयौ,
लियौ नहीं आप सुख महा परवस है।
निहचै स्वरूप परवस्तुकौ न परसै है,
अचल अखंड चिद् एक आप रस है।।१८६।।

अर्थ :– कमलनी पत्र सदा पानी में ही डूबा रहता है, सभी देखनेवाले जानते हैं कि पत्ता पानी से स्पर्श किये हुये है; परन्तु उस पत्र के स्वभाव से देखें तो उसने पानी को छुआ ही नहीं है – ऐसी उसकी सहज अस्पर्शी शक्ति है। उसीप्रकार यह आत्मा भी परभावों (विकारों) से मलीन हुआ महापरवश होकर इसने आत्मा का सुख नहीं लिया है। निश्चय से आत्मा का सहज स्वभाव परवस्तु व पर भावों को छूता भी नहीं है, सदाकाल अचल अखंड एकरूप ही रहता है।

जैसे कुंभकार करमाहिं गार पिंड लेय,
भाजन बनावै बहुभेद अन्य अन्य है।
माटी रूप दैखै और भेद नहीं भासतु है,
सहज सुभाव ही तैं आप ही अनन्य है।
गतिगतिमाहिं जैसे नाना परजाय धरै,
ऐसौ है स्वरूप सौ तौ व्यवहार जन्य है।
अन्य संग सेती यह अन्य सौ कहावत है,
एक रूप रहै तिहुँ लोक कहै धन्य है।।१८७।।

अर्थ :– जिसप्रकार कुम्हार हाथ में मिट्टी का पिण्ड लेकर अनेक प्रकार के बर्तन बनाता है, परन्तु उन्हें मिट्टीरूप देखने पर किसीप्रकार के भेद दिखाई नहीं देते हैं, मिट्टी सहज स्वभाव से अनन्य है। उसीप्रकार यह जीव भी गति-गति में अनेक पर्यायों को धारण करता हुआ दिखता है – यह व्यवहार की अवस्था है, क्योंकि अन्य के संयोग से अन्य नाम पाता है। फिर भी स्वभाव की अपेक्षा सदाकाल एकरूप रहता है, यही अवस्था उपादेय है।

सिन्धुमें तरंग जैसे उपजि विलाय जाय,
नानावत वृद्धि हानि जामैं यह पाईए।
अपनै सुभाव सदा सागर सुथिर रहै,
ताकौं व्यय उत्पाद कैसे ठहराईए।
तैसैं परजाय माहिं होय उत्पत्ति लय,
चिदानंद अचल अखंड सुद्ध गाईए।

परम पदारथ मैं स्वारथ स्वरूप ही कौ,
अविनासी देव आप ज्ञानज्योति ध्याईए।।१८८।।

अर्थ :– जिसप्रकार समुद्र में तरंगें उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाती हैं तथा उन तरंगों की नानाप्रकार वृद्धि-हानि होती देखी जाती है; परन्तु समुद्र अपने स्वभाव से सदाकाल स्थिर ही रहता है, उसमें उत्पाद-व्यय कैसे कह सकते हैं ? उसीप्रकार पर्याय में तो उत्पाद और व्यय होता है, परन्तु ध्रुव स्वभाव की अपेक्षा अचल अखंड शुद्ध ही है। उत्कृष्ट पदार्थ में स्वभाव की अपेक्षा आत्मा अविनाशी ज्ञानज्योति रूप ही कहा गया है।

चेतन अनादि नव तत्त्व में गुपत भयौ,
सुद्ध पक्ष देखैं स्वसुभाव रूप आप हैं।
कनक अनेक-वान भेद को धरत तोऊ,
अपनैं सुभाव में न दूसरो मिलाप है।
भेदभाव धरैहू अभेद रूप आत्मा है,
अनुभौ किएतैं मिटै भव दुख ताप है।
जानत विशेष यौ असेष भाव भासतु है,
चिदानंद देव मैं न कोऊ पुन्य पाप है।।१८९।।

अर्थ :– यह आत्मा अनादि से नवतत्त्वों में छुपा है, परन्तु शुद्धनय से देखने पर आत्मा स्वयं स्वभावरूप है (नव तत्त्वरूप नहीं हुआ है।) जिसप्रकार सोना अनेक वान रूप भेद को धरता हुआ अपने स्वभाव रूप ही रहता है, उसमें दूसरे का संयोग नहीं होता है, उसीप्रकार अनेक भेदभाव रूप आत्मा होते हुए भी अभेद रूप ही है और उसका अनुभव करने से सब संसार का दुख मिट जाता है । इसप्रकार विशेष जानते हुए भी सामान्य भाव भासित होता है। शुद्धात्मा में कोई पुण्य-पाप के परिणाम भासित नहीं होते हैं।

फटिकके हेठि जब जैसौं रंग दीजियत,
तैसौ प्रतिभासै वामैं वाहीकोसौ रंग है।

अपनौ सुभाव सुद्ध उज्जल विराजमान,
ताकौ नहीं तजै और गहे नाहिं संग है।
तैसै यह आत्मा हूँ परमाहिं परही सौं,
भासैं पै सदैव याकौ चिदानंद अंग है।
याही तै अखंड पद पावै जग-माहिं जेई,
स्यादवाद नय गहे सदा सरवंग है।।१६०।।

अर्थ :– जिसप्रकार स्फटिक मणि पर जैसे रंग डालते हैं, वह उस ही रंग रूप भासित होती है, परन्तु अपना उज्ज्वल स्वभाव उसमें सदाकाल विराजमान है, वह उसे नहीं छोड़ता है और दूसरे रंग को ग्रहण नहीं करता है। उसीप्रकार यह आत्मा विभाव परिणाम करते समय पर रूप ही भासित होती है, परन्तु कभी पर रूप नहीं होती है। इसलिए वे ज्ञानी जीव अखंड पद को प्राप्त होते हैं, जो स्याद्वाद नयों से सर्वांग वस्तु को जानते हैं।

(छप्पय)

परम अनुपम ज्ञानजोति, लछमी करि मंडित।
अचल अमित आनंद सहजतैं भयौ अखंडित।।
सुद्ध समय मैं सार, रहित भवभार निरंजन।
परमातम प्रभु पाय, भव्य करि है भवभंजन।।
महिमा अनंत सुखसिन्धु मैं, गणधरादि वंदित चरण।
शिवतियवर तिहूँलाकेपति, जय जय जय जिनवर सरण।।१६१।।

अर्थ :– श्री जिनेन्द्रदेव परम अद्भुत केवलज्ञान ज्योतिरूपी लक्ष्मी से शोभित हैं और अचल अनंत आनन्द स्वभाव से सहज अखंडता को प्राप्त हुए हैं। समस्त आत्मा में सार, संसार के भार से रहित निर्मल हैं। ऐसे परमात्मप्रभु को पाकर भव्यजीव अपने संसार का भी नाश करते हैं। अनंत सुख सागर में लीन रहनेवाले उनकी महिमा अनंत है और मुनि गणधरादि भी उनके चरणों की वंदना

करते हैं। ऐसे मोक्षरूपी लक्ष्मी को वरनेवाले तीन लोक के स्वामी की सदा जय हो और ऐसे जिनेन्द्रदेव ही शरण हैं।

(दोहा)

सकल विरोध विहंडनी, स्यादवादजुत जानि।
कुनयवाद मत खंडनी, नमौ देवि जिनवाणी।।१६२।।

अर्थ :– देवी जिनवाणी को नमस्कार करते हुए कहते हैं कि यह समस्त विरोध को मिटानेवाली तथा स्याद्वाद सहित है और सभी खोटे नयों को खंडन करनेवाली है।

अथ ग्रन्थ प्रशंसा

(सवैया इकतीसा)

अलख अराधन अखंड जोति साधनस-
रूप की समाधिकौ लखाव दरसावै है।
याही कै प्रसाद भव्य ज्ञानरस पीवतु हैं,
सिद्ध सौं अनुप पद सहज लिखावै है।
परम पदारथ के पायवे कौं कारण हैं,
भवदधितारणजहाज गुरु गावै है।
अचल अनंत सुख रतन दिखायवै कौं,
ज्ञान-दरपण ग्रन्थ भव्य उर भावै है।।१६३।।

अर्थ :– यह ज्ञान-दर्पण नामक ग्रन्थ एक अरूपी आत्मा की आराधना के लिए अखंड ज्योति की साधनास्वरूप समाधि को दिखाता है। इसी के फलस्वरूप भव्यजीव ज्ञानानंद रस को पीकर सिद्ध के समान अनुपम पद को प्राप्त होते हैं। जगत में सर्वोत्कृष्ट पदार्थ को प्राप्त होने में यही कारण है तथा संसार समुद्र से पार करने के लिए जहाज है – ऐसा ज्ञानी गुरुओं ने कहा है। अचल अनंत सुखरूपी रत्न (शुद्धात्मा) को दिखाने के लिए भव्यजीवों को इस ज्ञान-दर्पण ग्रन्थ को हृदय में अवश्य धारण करना चाहिए।

(दोहा)

आपा लखवै कौ यहै, दरपण ज्ञान गिरंथ।
श्रीजिनधुनि अनुसार है, लखत लहै शिव पंथ।।१६४।।

अर्थ :– अपने स्वरूप को देखने के लिए यह ज्ञानन्दर्पण ग्रन्थ श्री जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि के अनुसार ही है तथा इसे देखने, सुनने, मनन करने से जीव मोक्षमार्ग में लगता है।

परम पदारथ लाभ है, आनंद करत अपार।
दरपण ज्ञान गिरंथ यह, कियौ दीप अविकार।।१६५।।

अर्थ :– परम पदार्थ की प्राप्तिपूर्वक अपार आनन्द प्राप्त करने के लिए पण्डित दीपचन्दजी ने यह ज्ञानन्दर्पण ग्रन्थ निर्दोष लिखा है।

श्री जिनवर जयवंत है, सकल संत सुखदाय।
सही परम पदकौं करैं, है त्रिभुवन के राय।।१६६।।

अर्थ :– श्री जिनेन्द्रदेव (सर्वज्ञ-परमात्मा) सदा जयवंत और भव्यों को सुखकारी हैं, सभी को परम पद (निर्वाण) प्राप्त करानेवाले जो तीनों लोकों के स्वामी हैं।

इतिश्री शाह दीपचन्द साधर्मीकृत
ज्ञान-दर्पण ग्रन्थ समाप्त।

।। श्रीरस्तु ।।